॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् – स्वाध्याय संग्रह [१५]

श्री बृहत् संग्रहणी सूत्र

[गाथा और अर्थ]

कर्ता :— श्रीचंद्रसूरिजी

गुजराती अनुवाद :— पू.आ. हेमचंद्रसूरिजी

—: संकलन :—

श्रुतोपासक

—: प्रकाशक :—

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

शा. वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, साबरमती, अमदाबाद-380005

Mo. 9426585904

email - ahoshrut.bs@gmail.com

प्रकाशक : श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

प्रकाशन : संवत २०७६

आवृत्ति : प्रथम

ज्ञाननिधि में से
पू. संयमी भगवंतो और ज्ञानभण्डार को भेंट...
गृहस्थ किसी भी संघ के ज्ञान खाते में
५० रुपये अर्पण करके मालिकी कर सकते हैं।

प्राप्तिस्थान :

(१) **सरेमल जवेरचंद फाईनफेब (प्रा.) ली.**
672/11, बोम्बे मार्केट, रेलवेपुरा, अहमदाबाद-३८०००२
फोन : 22132543 (मो.) 9426585904

(२) **कुलीन के. शाह**
आदिनाथ मेडीसीन, Tu-02 शंखेश्वर कोम्पलेक्स, कैलासनगर, सूरत
(मो.) 9574696000

(३) **शा. रमेशकुमार एच. जैन**
A-901 गुंदेचा गार्डन, लालबाग, मुंबई-१२.
(मो.) 9820016941

(४) **श्री विनीत जैन**
जगद्गुरु हीरसूरीश्वरजी जैन ज्ञानभण्डार,
चंदनबाला भवन, १२९, शाहुकर पेठ के पास, मीन्ट स्ट्रीट, चेन्नाई-१
फोन : 044-23463107 (मो.) 9381096009

(५) **शा. हसमुखलाल शान्तीलाल राठोड**
७/८ वीरभारत सोसायटी, टीम्बर मार्केट, भवानीपेठ, पूना.
(मो.) 9422315985

मुद्रक : विरति ग्राफिक्स, अहमदाबाद, मो. **8530520629**
Email Id: mishrahemantkumar28@gmail.com

नमिउं अरिहन्ताइ, ठिइ भवणोगाहणा य पत्तेयम् ।
सुर-नारयाण वुच्छं, नर-तिरियाणं विणा भवणं ॥१॥

अर्थ - अरिहन्तादि पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके देव एवं नारकी के सम्बन्ध में प्रत्येक की स्थिति, भवन और अवगाहना, साथ ही मनुष्य तथा तिर्यंच की भवन के अतिरिक्त केवल स्थिति एवं अवगाहना के बारे में कहूँगा ।

उववाय-चवण-विरहं, संखं इगसमइयं गमागमणे ।
दसवाससहस्साइं भवणवईणं जहन्न ठिई ॥२॥

अर्थ - साथ ही उपपातविरह तथा च्यवनविरह और एक समय में कितने जीव च्यवित - मृत्यु होते हैं तथा एक ही समय में कितने, जीव उत्पन्न होते हैं ? यह कहते हुए गति एवं आगति द्वार भी कहूँगा । भवनपति देवों की जघन्य आयुष्यस्थिति दसहजार वर्ष प्रमाण होती है ॥२॥

चमर-बलि-सारमहिअं, तद्देवीणं तु तिन्नि चत्तारि ।
पलियाइं सड्ढाइं, सेसाणं नव-निकायाणं ॥३॥
दाहिण-दिवड्ढ-पलियं, उत्तरओ हुंति दुन्नि देसूणा ।
तद्देवी-मद्धपलियं, देसूणं आउमुक्कोसं ॥४॥

अर्थ - चमरेन्द्र और बलीन्द्र का अनुक्रम से सागरोपम तथा सागरोपम से कुछ अधिक उत्कृष्ट आयुष्य है उन दोनों इन्द्रों की देवियों का क्रम से साढे तीन पल्योपम तथा साढे चार पल्योपम, शेष रहे निकायों के दक्षिण दिशा में स्थित भवनपति देवों का डेढ़ पल्योपम और उत्तरदिशा के

भवनपति देवों का कुछ न्यून दो पल्योपम और उनकी देवियों का अनुक्रम से आधा पल्योपम और कुछ न्यून एक पल्योपम-प्रमाण उत्कृष्ट आयुष्य है ॥३-४॥

वंतरयाणं जहन्नं, दस-वास-सहस्स-पलियमुक्कोसं ।
देवीणं पलिअद्धं, पलियं अहियं ससि-रवीणं ॥५॥
लक्खेण सहस्सेण य, वासाण गहाण पलिय मेएसिं ।
ठिइ अद्धं देवीणं, कमेण नक्खत्त-ताराणं ॥६॥
पलिअद्धं चउभागो, चउ-अडभागाहिगाउ देवीणं ।
चउजुअले चउभागो, जहन्नमडभाग पंचमए ॥७॥

अर्थ - व्यंतर देवों तथा देवियों का जघन्य आयुष्य दस हजार वर्ष प्रमाण है और व्यंतरदेवों का उत्कृष्ट आयुष्य पल्योपम प्रमाण है, व्यंतरदेवों की देवी का उत्कृष्ट आयुष्य अर्ध-पल्योपम जितना है । चन्द्र का एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम और सूर्य का एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम प्रमाण उत्कृष्ट आयुष्य है । ग्रहों का उत्कृष्ट आयुष्य प्रमाण एक पल्योपम है । साथ ही चन्द्र, सूर्य और ग्रहों की देवियों का उनसे आधा है । नक्षत्र और तारे का अनुक्रम से, आधा पल्योपम तथा पल्योपम का चौथा भाग प्रमाण उत्कृष्ट है और उन दोनों की देवियों का अनुक्रम से कुछ अधिक पल्योपम का चौथा भाग, कुछ अधिक पल्योपम का आठवाँ भाग उत्कृष्ट आयुष्य है । साथ ही चार सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र के देव और देवियां युगल के विषय में जघन्य आयुष्य

पल्योपम का चौथा भाग है और पाँचवें युगल में जघन्य आयुष्य का प्रमाण पल्योपम का आठवाँ भाग है ॥५-७॥

दोसाहि-सत्तसाहिय, दस-चउदस-सत्तर-अयर जा सुक्को ।
इक्किक्कमहियमित्तो, जा इगतीसुवरि गेविज्जे ॥८॥

अर्थ - (सौधर्म से महाशुक्र तक) दो सागरोपम, साधिक दो सागरोपम, सात सागरोपम, साधिक सात सागरोपम, दस सागरोपम, चौदह सागरोपम और सत्रह सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति एक एक सागरोपम प्रमाण आयुष्य स्थिति में वृद्धि से ऊपर की नवम ग्रैवेयेक में ३१ सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति हो तब तक करें, पश्चात् अनुत्तर विमान में तैंतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति समझें । इस तरह सौधर्मादि देवलोक में उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण कहा गया है ॥८॥

तित्तीसणुत्तरेसु, सोहम्माइसु इमा ठिई जिट्ठा ।
सोहम्मे ईसाणे, जहन्न-ठिइ पलियमहिअं च ॥९॥
दो-साहिसत्तदस चउ-दस, सत्तर अयराइं जा सहस्सारो ।
तत्परओ इक्किक्कं, अहियं जाऽणुत्तरचउक्के ॥१०॥

अर्थ - सौधर्म तथा ईशान देवलोक में अनुक्रम से पल्योपम और साधिक पल्योपम प्रमाण जघन्य स्थिति है । तत्पश्चात् सनत्कुमार, माहेन्द्र ब्रह्मलोक, लान्तक, शुक्र तथा सहस्त्रार देवलोक में अनुक्रम से दो सागरोपम, साधिक दो सागरोपम, सात सागरोपम, दस सागरोपम, चौदह सागरोपम

तथा सत्रह सागरोपम-प्रमाण जघन्य स्थिति कही गई है । तत्पश्चात् आनतादि चार देवलोकों में, नौ ग्रैवेयकों में तथा विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार अनुत्तर विमानों में अनुक्रम से एक-एक सागरोपम अधिक जघन्य स्थिति है । इस प्रकार समग्र अनुत्तर देवलोक के चारों विमानों में इकतीस सागरोपमप्रमाण जघन्यस्थिति जानें । सर्वार्थसिद्ध में जघन्य स्थिति नहीं है ॥९-१०॥

इगतीस सागराइं, सव्वट्ठे पुण जहन्न-ठिइ नत्थि ।
परिगहिआणियराणि य, सोहम्मीसाण-देवीणं ॥११॥
पलियं अहियं च कमा, ठिई जहन्ना इओ य उक्कोसा ।
पलियाइं सत्त-पन्नास, तह य नव पंचवन्ना य ॥१२॥

अर्थ - सौधर्म तथा ईशान देवलोक की परिगृहीता तथा अपरिगृहीता देवियों का जघन्य आयुष्य अनुक्रम से पल्योपम तथा साधिक (कुछ अधिक) पल्योपम प्रमाण जानें । उनका उत्कृष्ट आयुष्य सौधर्म देवलोक की परिगृहीता देवी का सात पल्योपम और अपरिगृहीता देवी का पचास पल्योपम प्रमाण उत्कृष्ट आयुष्य जानें । ईशान देवलोक की परिगृहीता देवी का नव पल्योपम और अपरिगृहीताओं का पचपन पल्योपम प्रमाण उत्कृष्ट आयुष्य समझें ॥११-१२॥

पण-छ-चउ-चउ-अट्ठ य, कमेण पत्तेयमग्गमहिसीओ ।
असुर-नागाइवंतर-जोइसकप्पदुगिंदाणं ॥१३॥

अर्थ - असुरकुमार, नागकुमार इत्यादि व्यन्तर,

ज्योतिष, २ देवलोक के इन्द्र की क्रमशः ५, ६, ४, ४, ८ अग्रमहिषीया (मुख्य देवी) ॥१३॥

दुसु तेरस दुसु बारस, छ पण चउ चउ दुगे दुगे य चउ ।
गेविज्ज-णुत्तरे दस, बिसट्ठि पयरा उवरि लोए ॥१४॥

अर्थ - सौधर्म तथा ईशान देवलोक में तेरह प्रतर हैं । तत्पश्चात् के तीसरे और चौथे-इन दो देवलोकों में बारह प्रतर हैं । पाँचवें देवलोक में छह प्रतर, छठे में पाँच प्रतर, सातवें में चार प्रतर, आठवें में चार प्रतर, नवम तथा दशम देवलोक में चार और ग्यारह तथा बारहवें देवलोक में भी चार प्रतर हैं । तत्पश्चात् नौ ग्रैवेयक के नौ और अनुत्तर विमान का एक मिलकर कुल दस प्रतर हैं । इस तरह ऊर्ध्वलोक के देवलोक में बासठ प्रतर हैं ॥१४॥

सोहम्मुक्कोसठिई, नियपयरविहत्त इच्छसंगुणिओ ।
पयरूक्कोसठिइओ, सव्वत्थ जहन्नओ पलियं ॥१५॥

अर्थ - सौधर्म देवलोकवासी देवों की उत्कृष्ट स्थिति को सौधर्म देवलोक के प्रतर की संख्या से बांटकर जिस प्रतर का आयुष्य निश्चित करना हो उस प्रतर से पूर्वोक्त संख्या को गुना करने से इष्ट प्रतर की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है । जघन्य स्थिति तो सभी प्रतरों में पल्योपम प्रमाण है ॥१५॥

सुरकप्पठिई विसेसो, सगपयरविहत्तइच्छसंगुणिओ ।
हिट्ठिल्लठिईसहिओ, इच्छियपयरम्मि उक्कोसा ॥१६॥

अर्थ - सनत्कुमार आदि कल्पोपन्न देवों की उत्कृष्ट स्थिति को अपने-अपने देवलोक सम्बन्धी प्रतर की संख्या से भाग दें । जो संख्या आये उसे इष्ट प्रतर की संख्या से गुणा करें, जो उत्तर आये वह और नीचे के प्रतर की स्थिति दोनों के मिलाने से इष्ट प्रतर में उत्कृष्ट-स्थिति प्राप्त होगी ॥१६॥

कप्पस्स अन्तपयरे, नियकप्पवडिंसयाविमाणाओ ।
इंद निवासा तेसिं, चउदिसि लोगपालाणं ॥१७॥

अर्थ - प्रत्येक देवलोक के अन्तिम प्रतर में अपने-अपने नामवाले कल्पावतंसक विमान होते हैं, उनमें इन्द्र के निवासस्थान होते हैं, और उनके चारों ओर लोकपाल देवों के निवासस्थान होते हैं ॥१७॥

सोम-जमाणं सतिभाग, पलिय वरुणस्स दुन्निदेसूणा ।
वेसमणे दो पलिया, एस ठिई लोगपालाणं ॥१८॥

अर्थ - सोम तथा यम नाम के लोकपाल की आयुष्य-स्थिति तीसरे भाग सहित एक पल्योपम (१$\frac{1}{3}$) प्रमाण है । वरुण लोकपाल की स्थिति कुछ न्यून दो पल्योपम और वैश्रमण लोकपाल की दो पल्योपम की है । इस प्रकार लोकपाल देवों की स्थिति जानें ॥१८॥

असुरा नाग सुवन्ना, विज्जू अग्गी य दीव उदही अ ।
दिसि पवण थणिय दसविह, भवणवई तेसु दु दु इंदा ॥१९॥

अर्थ – १.'असुरकुमार' ये देव सर्वांगोपांग से परम लावण्यवाले, सुन्दर, देदीप्यमान मुकुट को धारण करनेवाले, बड़ी कायावाले और श्याम-कान्तिवाले होते हैं । २. 'नागकुमार' मस्तक तथा मुख पर अधिक शोभा युक्त, मृदु और ललित गतिवाले श्वेतवर्णी होते हैं । ३. 'सुवर्णकुमार' गरदन तथा उदर से शोभायमान, कनक गौरवर्णमय होते हैं । ४. 'विद्युत्कुमार' स्निग्ध-अवयवों से सुशोभित, ज्योति-स्वभावी, तपे हुए सुवर्णवर्णमय होते हैं । ५. 'अग्निकुमार' सर्वांगोपांग से मनोन्मान प्रमाणवाले, विविध प्रकार के आभूषणों को धारण करनेवाले, तप्त सुवर्ण के समान वर्णयुक्त होते हैं । ६. 'द्वीपकुमार' स्कन्ध और वक्षःस्थल, बाहु और अग्र हस्त में विशेष करके शोभा सहित, उत्तम हेमप्रभा के समान वर्णवाले होते हैं । ७. 'उदधिकुमार' उरु और कटिभाग-में अधिक शोभावाले, श्वेतवर्णी होते हैं । ८. 'दिक्कुमार' जंघा और पैरों में अत्यन्त शोभावाले, जातिशाली स्वर्णसमान गौर-वर्णवाले होते हैं । ९. 'वायुकुमार' स्थिर-पुष्ट-सुन्दर और गोल गात्रोंवाले, गम्भीर और नत उदरयुक्त, निर्मल ऐसे प्रियंगु वृक्ष के जैसी श्यामकान्तिवाले होते हैं । १०. 'स्तनितकुमार' स्निग्धा-वयवी, अति गम्भीर नादवाले, जातिवान् सुवर्ण के समान कान्तिवाले गौर होते हैं ।

चमरे बली अ धरणे, भूयाणंदे य वेणुदेवे य ।
तत्तो य वेणुदाली, हरिकंते हरिस्सहे चेव ॥२०॥
अग्गिसिह अग्गिमाणव, पुन्न वसिट्ठे तहेव जलकंते ।
जलपह तह अमियगई, मियवाहण दाहिणुत्तरओ ॥२१॥
वेलंबे य पभंजण, घोस महाघोस एसिमन्नयरो ।
जंबुद्दीवं छत्तं, मेरुं दंडं पहू काउं ॥२२॥

अर्थ – चमर, बलि, धरण, भूतानंद, वेणुदेव, वेणुदाली, हरिकांत, हरिस्सह, अग्निशिख, अग्निमानव, पूर्ण, वशिष्ट, जलकान्त, जलप्रभ, अमितगति, अमितवाहन, वेलंब, प्रभंजन, घोष, महाघोष, – ये भवनपति के दक्षिण और उत्तर तरफ के इन्द्र हैं। इनमें से कोई भी इन्द्र जंबूद्वीप को छत्र और मेरुपर्वत को दण्ड बनाने में समर्थ है। ॥२०-२१-२२॥

चउतीसा-चउचत्ता, अट्ठतीसा य चत्त पंचण्हं ।
पन्ना-चत्ता कमसो, लक्खा भवणाण दाहिणओ ॥२३॥

अर्थ – ३४ लाख, ४४ लाख, ३८ लाख, पाँच के ४० लाख, ५० लाख, ४० लाख क्रमशः दक्षिण तरफ के भवन हैं ॥२३॥

चउ-चउलक्ख-विहूणा, तावइया चेव उत्तर दिसाए ।
सव्वेवि सत्तकोडी, बावत्तरी हुंति लक्खा य ॥२४॥

अर्थ – उत्तर दिशा में चार-चार लाख कम, उतने ही भवन हैं कुल मिलाकर ७, करोड ७२ लाख भवन हैं ॥२४॥

रयणाए हिट्ठुवरिं, जोयणसहस्सं विमुत्तुं ते भवणा ।
जंबुद्दीवसमा तह, संखमसंखिज्ज वित्थारा ॥२५॥

अर्थ - रत्नप्रभा नारकी के ऊपर और नीचे के हजार-हजार योजन छोड़कर बाकी बचे हुए बीच के अन्तर में, भवनपति के भवन हैं, वे भवन जघन्य से जम्बूद्वीप जितने, मध्यम प्रमाण से संख्ययोजन विस्तारवाले और उत्कृष्ट प्रमाण से असंख्ययोजन विस्तारवाले होते हैं ॥२५॥

चूडामणि-फणि-गरुडे, वज्जे तह कलस-सीह-अस्से य ।
गय-मयर-वद्धमाणे, असुराईणं मुणसु चिंधे ॥२६॥

अर्थ - चूडामणि, फणा, गरुड, वज्र, कलश, सिंह, अश्व, हाथी, मगर, वर्धमान - ये असुरकुमार आदि के चिह्न जानें ॥२६॥

असुरा काला नागु-दहि पंडुरा, तह सुवन्न-दिसि-थणिया ।
कणगाभ विज्जु-सिहि-दीव, अरुण वाऊ पियंगुनिभा ॥२७॥

अर्थ - असुरकुमार काला है, नागकुमार और उदधिकुमार सफेद हैं, सुवर्णकुमार, दिशिकुमार और स्तनितकुमार सुवर्ण जैसे वर्णवाले हैं, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार और द्वीपकुमार लाल हैं, वायुकुमार रायण के वृक्ष की भाँति (नील) वर्णवाले हैं ॥२७॥

असुराण वत्थ रत्ता, नागोदही-विज्जु-दीव-सिहिनीला ।
दिसि-थणिय-सुवन्नाणं, धवला वाऊण संझरुई ॥२८॥

अर्थ - मनुष्य लोक में उनके पहनावे से भी लोग पहचाने जाते हैं। जैसे श्वेत वस्त्रवाले हों वे कुछ सम्प्रदाय के

साधु, रक्त वस्त्रवाले अमुक सम्प्रदाय के, काली अचकन (कंचुक) वाले हों तो वे फकीर आदि उस प्रकार असुरकुमार के वस्त्र लाल है, नागकुमार-उदधिकुमार-विद्युत्कुमार-द्वीपकुमार-अग्निकुमार के वस्त्र नील है, दिशिकुमार-स्तनितकुमार-सुवर्णकुमार के वस्त्र सफेद है, वायुकुमार के वस्त्र सन्ध्या के रंग समान है ॥२८॥

चउसट्ठि सट्ठि असुरे, छच्च सहस्साइं धरणमाईणं ।
सामाणिया इमेसिं, चउग्गुणा आयरक्खा य ॥२९॥

अर्थ - असुरकुमार निकाय के, चमरेन्द्र तथा बलीन्द्र इन दो इन्द्रों के क्रमशः ६४ हजार तथा ६० हजार सामानिक देव हैं । अवशिष्ट धरणेन्द्र आदि इन्द्रों के छः-छः हजार सामानिक देव हैं । और सामानिक देवों की जो संख्या कही गई है उससे चारगुनी संख्या आत्मरक्षक देवों की है ॥२९॥

रयणाए पढमजोयण,-सहस्से हिट्ठुवरिं सय-सय विहूणे ।
वन्तरियाणं रम्मा, भोम्मा नगरा असंखेज्जा ॥३०॥

अर्थ - रत्नप्रभानारकी में प्रथम अर्थात् ऊपर के हजार योजन में नीचे तथा ऊपर सौ सौ योजन छोड़कर अवशिष्ट आठसौ योजन में व्यन्तरदेवों के भूमि के अन्दर वर्तित असंख्याता सुन्दर नगर हैं ॥३०॥

बाहिं वट्टा अंतो, चउरंसा अहो अ कण्णियायारा ।
भवण वईण तह वन्तराणां, इन्दभवणा उ नायव्वा ॥३१॥

अर्थ - भवनपति और व्यंतर के इन्द्र (देवों) के भवन बाहर से गोल, अन्दर से चौरस और नीचे से कर्णिका के आकार का जानें ॥३१॥

तहिं देवा वन्तरिया, वरतरूणी-गीय-वाइय-रवेणं ।
निच्चं सुहिय-पमुइया, गयंपि कालं न याणंति ॥३२॥

अर्थ - उन भवनों में व्यन्तरदेव, सुन्दर देवियाँ और गीत वाद्ययन्त्रों की ध्वनि के द्वारा हंमेशा सुखी और खुश होते हुए बिते काल को जानते नहीं हैं ॥३२॥

ते जम्बुदीव-भारह-विदेहसम गुरु-जहन्न-मज्झिमगा ।
वन्तर पुण अट्ठविहा, पिसाय-भूया तहा जक्खा ॥३३॥
रक्खस-किन्नर-किंपुरिसा, महोरगा अट्ठमा य गंधव्वा ।
दाहिण-उत्तरभेया, सोलस तेसिं इमे इंदा ॥३४॥

अर्थ - वे भवन उत्कृष्ट से, जघन्य से तथा मध्यम से जंबूद्वीप के समान, भरतक्षेत्र के समान तथा महाविदेहक्षेत्र के समान हैं । व्यंतर ८ प्रकार के हैं - पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और आठवाँ गंधर्व, दक्षिण-उत्तर भेद से उनके १६ इन्द्र इस प्रकार हैं ॥३३-३४॥

काले य महाकाले, सुरूव पडिरूव पुण्णभद्दे य ।
तह चेव माणिभद्दे, भीमे य तहा महाभीमे ॥३५॥
किन्नर किंपुरिसे सप्पुरिसा, महापुरिस तह य अइकाए ।
महाकाय गीयरई, गीयजसे दुन्नि दुन्नि कमा ॥३६॥

अर्थ - काल, महाकाल, सुरूप, प्रतिरूप, पूर्णभद्र, माणिभद्र, भीम, महाभीम, किन्नर, किंपुरुष, सत्पुरुष, महापुरुष, अतिकाय, महाकाय, गीतरति, गीतयश - क्रमशः दो-दो ॥३५-३६॥

चिंधं कलंब-सुलसे, वड-खट्टंगे असोग-चंपयए ।
नागे तुंबरु अज्झए, खट्टंग विवज्जिया रुक्खा ॥३७॥

अर्थ - उनके ध्वज के ऊपर कदंब, सुलस, वड, खट्वांग, अशोक, चंपक, नाग, तुंबरु - ये चिह्न हैं । इनमें खट्वांग के सिवाय सभी वृक्ष हैं ॥३७॥

जक्ख-पिसाय-महोरग-गन्धव्वा साम किंनरा नीला ।
रक्खस-किंपुरुसा वि य, धवला भूया पुणो काला ॥३८॥

अर्थ - यक्ष, पिशाच, महोरग और गन्धर्व श्यामवर्ण के हैं, किन्नर नीलवर्ण के हैं, राक्षस और किंपुरुष सफेदवर्ण के हैं तथा भूत काले वर्ण के हैं ॥३८॥

अणपन्नी पणपन्नी, इसिवाई भूयवाइए चेव ।
कंदी य महाकंदी, कोहंडे चेव पयए य ॥३९॥
इयपढम-जोयणसए, रयणाए अट्ठ वन्तरा अवरे ।
तेसु इह सोलसिंदा, 'रुयग' अहो दाहिणुत्तरओ ॥४०॥

अर्थ - अणपन्नी, पणपन्नी, ऋषिवादी, भूतवादी, कंदित, महाकंदित, कुष्मांड और पतंग ये आठ वाणव्यन्तर

के भेद हैं। ये आठों वाणव्यन्तरनिकाय रुचकप्रदेश के नीचे, रत्नप्रभा पृथ्वी के पहले सौ योजन में आये हैं और उनमें दक्षिण-उत्तरभेद के कुल मिलाकर सोलह इन्द्र हैं ॥३९-४०॥

संनिहिए सामाणे, धाए विहाए इसी य इसिवाले ।
ईसर-महेसरे वि य, हवइ सुवत्थे विसाले य ॥४१॥
हासे हासरई वि य, सेए य भवे तहा महासेए ।
पयगे पयंगवई वि य, सोलस इंदाण नामाइं ॥४२॥

अर्थ - संनिहित, सामान, धाता, विधाता, ऋषि, ऋषिपाल, ईश्वर महेश्वर, सुवत्स, विशाल, हास्य, हास्यरति, श्वेत, महाश्वेत, पतंग और पतंगपति - ये १६ इन्द्रों के नाम हैं ॥४१-४२॥

सामाणियाण चउरो, सहस्स सोलस य आयरक्खाणं ।
पत्तेयं सव्वेसिं, वंतरवइ-ससिरवीणं च ॥४३॥

अर्थ - सभी व्यन्तरेन्द्र और चन्द्र-सूर्य प्रत्येक के ४,००० सामानिक देव हैं और १६,००० आत्मरक्षक देव हैं ॥४३॥

इंद सम तायतीसा,
परिस तिया-रक्ख लोगपाला य ।
अणिय पइण्णा अभिओगा,
किब्बिसं दस भवण वेमाणी ॥४४॥

अर्थ - इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पर्षदा के, आत्मरक्षक, लोकपाल, सैन्य, प्रकीर्णक, आभियोगिक और किल्बिष - ये दस प्रकार के देव भवनपति और वैमानिक

में होते हैं ॥४४॥

गन्धव्व-नट्ट-हय-गय, रह-भड-अणियाणि सव्वइंदाणं ।
वेमाणियाण वसहा, महिसा य अहोनिवासीणं ॥४५॥

अर्थ - गन्धर्व, नाट्य, अश्व, हाथी, रथ और सैनिक - ये सैन्य सभी इन्द्रों के होते हैं। वैमानिकों को बैल का सैन्य होता है और नीचे के देवों के भैंसे के सैन्य होते हैं ॥४५॥

तित्तीस तायतीसा, परिसतिआ लोगपाल चत्तारि ।
अणियाणि सत्त सत्त य, अणियाहिव सव्वइंदाणं ॥४६॥
नवरं वंतर-जोइस-इंदाण, न हुंति लोगपालाओ ।
तायत्तीसभिहाणा, तियसा वि य तेसिं न हु हुंति ॥४७॥

तैंतीस त्रायस्त्रिंशक देव, तीन-तीन पर्षदाएँ, चार-चार लोकपाल देव, सात प्रकार के सैन्य, सात सैन्यों के अधिपति-इतना परिवार सभी इन्द्रों का होता है, परन्तु व्यन्तर तथा ज्योतिषी के इन्द्रों के पास लोकपाल देव और त्रायस्त्रिंशक नाम के देव नहीं होते हैं। ॥४६-४७॥

समभूतलाउ अट्ठहिं, दसूणजोयणसएहिं आरब्भ ।
उवरि दसुत्तरजोयण-सयंमि चिट्ठंति जोइसिया ॥४८॥

अर्थ - समभूतला पृथ्वी से दस कम ऐसे आठसौ योजन (सातसौ नब्बे योजन) से आरम्भ करके, ऊपर ऊर्ध्व आकाश में एकसौ दस योजन तक ज्योतिषी देव रहते हैं ॥४८॥

तत्थ रवी दसजोयण, असीइ तदुवरिं ससी य रिक्खेसु ।
अह भरणि-साइ उवरिं, बहि मूलोऽभिंतरे अभिई ॥४९॥

तार-रवि-चन्द-रिक्खा, बुह-सुक्का जीव-मंगल-सणिया ।
सगसयनउय दस-असिइ, चउ चउ कमसो तिया चउसु ॥५०॥

अर्थ - समभूतला पृथ्वी से (७९०) सातसौ नब्बे योजन दूर जाने के बाद दस योजन के अन्तर पर सूर्य है। वहाँ से अस्सी योजन दूर चन्द्र है और उसके बाद नक्षत्र हैं। उनमें सबसे नीचे भरणी और सबसे ऊपर स्वातिनक्षत्र है। सर्व बाह्य भाग में मूल और सर्व अभ्यन्तर भाग में अभिजित् नक्षत्र है। समभूतला पृथ्वी से ७९० (सात सौ नब्बे) योजन पर तारे, उनके बाद दस योजन के अन्तर पर सूर्य, फिर अस्सी योजन जाने पर चन्द्र, वहाँ से चार योजन पर नक्षत्र मण्डल, वहाँ से चार योजन पर बुध, उसके पश्चात् ३ योजन पर शुक्र उसके बाद तीन योजन पार करने पर गुरु, फिर तीन योजन पर मंगल और तदनन्तर तीन योजन पर शनिश्चर है ॥४९-५०॥

इक्कारस जोयणसय, इगवीसिक्कारसाहिया कमसो ।
मेरु-अलोगाबाहं, जोइसचक्कं चरइ ठाइ ॥५१॥

अर्थ - ग्यारहसौ इक्कीस योजन तथा ग्यारहसौ ग्यारह योजन अनुक्रम से मेरु तथा अलोक की अबाधा पर ज्योतिश्चक्र घूमता है और स्थिर रहता है ॥५१॥

अद्धकविट्ठागारा, फलिहमया रम्मजोइसविमाणा ।
वंतरनयरेहिंतो, संखिज्जगुणा इमे हुंति ॥५२॥

ताइं विमाणाइं पुण, सव्वाइं हुंति फालिहमयाइं ।
दगफालिहमया पुण, लवणे जे जोइसविमाणा ॥५३॥

अर्थ - ज्योतिषीदेवों के विमान अर्ध कोठे के आकारवाले, स्फटिकरत्नमय और बहुत सुन्दर होते हैं, साथ ही व्यन्तरदेवों के नगरों की अपेक्षा इन ज्योतिषीदेवों के विमान संख्याता गुने हैं, और इन ज्योतिषी देवों के सारे विमान स्फटिकरत्नमय होते हैं। उनमें भी जो विमान लवण समुद्र पर विद्यमान हैं वे उदकस्फाटकस्फटिकमय अर्थात् पानी को भी फोड़कर-छेदकर प्रकाश दे सकें ऐसे-उदकस्फाटकस्फटिक रत्न के हैं ॥५२-५३॥

जोयणिगसट्ठि भागा, छप्पन्न अडयाल गाउ दु इगद्धं ।
चन्दाइ-विमाणा-याम-वित्थडा अद्धमुच्चत्तं ॥५४॥

अर्थ - एक योजन के छप्पन बटे इकसठवाँ भाग $\frac{५६}{६१}$ एक योजन के अडतालीस बटे इकसठवाँ भाग $\frac{४८}{६१}$ दो कोस, एक कोस और आधा कोस प्रमाण अनुक्रम से चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र तथा तारों के विमानों की लम्बाई, चौड़ाई जानें और ऊँचाई उससे अर्धप्रमाण जानें ॥५४॥

पणयाल लक्ख जोयण, नरखित्तं तत्थिमे सया भमिरा ।
नरखित्ताउ बहिं पुण, अद्धपमाणा ठिया निच्चं ॥५५॥

अर्थ - पैंतालीस लाख (४५,००,०००) योजन प्रमाण मनुष्यक्षेत्र है, उसमें इन ज्योतिषीयों के विमान सदाकाल

परिभ्रमण करने वाले हैं और मनुष्यक्षेत्र के बाहर ज्योतिषीयों के जो विमान हैं वे पूर्वोक्त लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई की अपेक्षा से अर्ध प्रमाणवाले तथा सदाकाल स्थिर हैं ॥५५॥

ससि-रवि-गह-नक्खत्ता, ताराओ हुंति जहुत्तरं सिग्घा ।
विवरीया उ महड्ढिअ, विमाणवहगा कमेणेसिं ॥५६॥
सोलस-सोलस-अड-चउ, दो सुर सहस्सा पुरो य दाहिणओ ।
पच्छिम-उत्तर-सीहा, हत्थी-वसहा-हया कमसो ॥५७॥

अर्थ - चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र और तारे अनुक्रम से एक के बाद एक शीघ्र गतिवाले होते हैं और ऋद्धि की अपेक्षा से (अर्थात् महर्द्धिकता से) विपरीत होते हैं अर्थात् एक के बाद एक अनुक्रम से अल्प ऋद्धियुक्त होते हैं, उन पाँचों ज्योतिषीदेवों के विमानों को वहन करनेवाले देवों की संख्या अनुक्रम से सोलह हजार, सोलह हजार, आठ हजार, चार हजार और दो हजार देवों की होती है । और पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तरदिशा में अनुक्रम से सिंह, हाथी, वृषभ और अश्व (घोड़ा) के रूप को धारण करनेवाले देव होते हैं ॥५६-५७॥

गह अट्ठासी नक्खत्त, अडवीसं तारकोडिकोडीणं ।
छासट्ठिसहस्सनवसय,-पणसत्तरि एगससीसिन्नं ॥५८॥

अर्थ - अट्ठासी (८८) ग्रह, अट्ठाइस (२८) नक्षत्र और छियासठ हजार नौसौ पचहत्तर (६६,९७५) कोडाकोडी तारे इतना एक चन्द्रमा का परिवार होता है ॥५८॥

कोडाकोडी सन्नंतरं तु, मन्नंति खित्तथोवतया ।
केइ अन्ने उस्से-हंगुलमाणेण ताराणं ॥५९॥

अर्थ - कोई आचार्य कोडाकोडी को संज्ञांतर-नामांतर कहते हैं, क्योंकि मनुष्यक्षेत्र कम है और कोई आचार्य ताराओं के विमानों को उत्सेधांगुल से मापने को कहते हैं ॥५९॥

किण्हं राहुविमाणं, निच्चं चंदेण होइ अविरहियं ।
चउरंगुलमप्पत्तं, हिट्ठा चंदस्स तं चरइ ॥६०॥

अर्थ - कृष्णवर्ण के राहु का विमान निरंतर चन्द्र के साथ ही होता है इसलिए उससे दूर नहीं होता अर्थात् चार अंगुल अलग रहकर हमेशा चन्द्र के नीचे चलता है ॥६०॥

तारस्स य तारस्स य, जम्बूद्दीवम्मि अंतरं गुरुयं ।
बारस जोयणसहसा, दुन्नि सया चेव बायाला ॥६१॥

अर्थ - जम्बूद्वीप में एक ताराविमान से दूसरे ताराविमान के बीच का अन्तर उत्कृष्ठ बारह हजार दो सौ बयालीस योजन का है ॥६१॥

निसढो य नीलवंतो, चत्तारि सय उच्च पंच सय कूडा ।
अद्धं उवरिं रिक्खा, चरंति उभयऽट्ठ बाहाए ॥६२॥

अर्थ - निषध और नीलवन्त पर्वत भूमि से चारसौ योजन ऊँचे हैं और उनके ऊपर पाँचसौ योजन ऊँचे (नौ) नव-नव शिखर-कूट हैं । ये कूट ऊपर के भाग में ढाई सौ (२५०) योजन चौडे हैं और उन कूटों से आठ-आठ योजन की अबाधा पर नक्षत्र, तारे आदि परिभ्रमण करते हैं ॥६२॥

छावट्ठा दुन्निसया, जहन्नमेयं तु होइ वाघाए ।
निव्वाघाए गुरु लहु, दो गाउय धणु सया पंच ॥६३॥

अर्थ – व्याघात से जघन्य अन्तर (२५० + ८ + ८ = २६६) दो सौ छियासठ योजन प्रमाण हुआ, निर्व्याघात में उत्कृष्ट अन्तर दो कोस का और जघन्य अन्तर पाँच सौ धनुष का होता है ॥६३॥

माणुसनगाउ बाहिं, चन्दा सूरस्स सूर चन्दस्स ।
जोयणसहस्सपन्नासऽणूणगा अन्तरं दिट्ठं ॥६४॥

अर्थ – मानुषोत्तरपर्वत से बाहर विवक्षित चन्द्र से सूर्य का तथा सूर्य से चन्द्र का अन्तर सम्पूर्ण पचास हजार योजन का सर्वज्ञों ने देखा है ॥६४॥

ससि ससि रवि रवि साहिय-जोयणलक्खेण अंतरं होइ ।
रवि अन्तरिया ससिणो, ससिअन्तरिया रवि दित्ता ॥६५॥

अर्थ – एक चन्द्र से दूसरे चन्द्र का और एक सूर्य से दूसरे सूर्य का अन्तर साधिक लक्षयोजन प्रमाण है, चन्द्र सूर्यों से अन्तरित हैं और सूर्य चन्द्रों से अन्तरित हैं ॥६५॥

बहिया उ माणुसुत्तर, चन्दा सूरा अवट्ठि-उज्जोया ।
चन्दा अभिइ-जुत्ता, सूरा पुण हुंति पुस्सेहिं ॥६६॥

अर्थ – मानुषोत्तरपर्वत से बाहर अवस्थित चन्द्र तथा सूर्य स्थिर प्रकाशवाले होते हैं अर्थात् एक स्थल में स्थिर रहकर प्रकाश देते हैं और चन्द्र अभिजित् नक्षत्र से युक्त होते हैं तथा सूर्य पुष्य नक्षत्र से युक्त होते हैं ॥६६॥

उद्धारसागर दुगे, सड्ढे समएहिं तुल्ल दीवुदही ।
दुगुणादुगुणपवित्थर, वलयागारा पढमवज्जं ॥६७॥
पढमो जोयणलक्खं, वट्टो तं वेढिउं ठिया सेसा ।
पढमो जम्बुद्दीवो, सयंभुरमणोदही चरमो ॥६८॥

अर्थ – अढ़ाई उद्धारसागरोपम के समयों की जितनी संख्या हो उतनी संख्यावाले द्वीप-समुद्र हैं और पूर्व-पूर्व से पीछे-पीछे के द्वीप-समुद्र दुगुने-दुगुने विस्तारवाले हैं तथा प्रथम द्वीप को छोडकर शेष समग्र द्वीप-समुद्र वलयाकार वाले हैं ।

प्रथम (जम्बूद्वीप) लाख योजन प्रमाणवाला है, तथा वह वृत्त-गोलाकार में है और दूसरे सभी द्वीप-समुद्र उसे घेरकर वलयाकार में स्थित हैं । उनमें पहला जम्बूद्वीप और अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र है ॥६७-६८॥

जम्बू-धायइ-पुक्खर-वारुणिवर-
खीर-घय-खोय-नन्दिसरा ।
अरुण-रुणुवाय-कुण्डल-संख-
रुयग-भुयग-कुस-कुंचा ॥६९॥

अर्थ – यहाँ मूलगाथा में द्वीपों के विशेष नाममात्र का ही उल्लेख किया है, परन्तु अर्थ के लिए यथायोग्य उस नाम के साथ क्रमशः 'द्वीप खण्ड तथा वर' शब्द प्रयुक्त करें जंबू, घातकी, पुष्करवर, वारुणीवर, क्षीरवर, धृतवर, नंदीश्वर, अरुण, अरुणोपपात, कुंडल, शंख, रुचक, भुजग, कुश, क्रौंच – द्वीपों है ॥६९॥

पढमे लवणो जलहि, बीए कालो य पुक्खराईसु ।
दीवेसु हुंति जलही, दीवसमाणेहिं नामेहिं ॥७०॥

अर्थ – पहले जम्बूद्वीप को घेरकर–लपेटकर लवणसमुद्र रहा है। दूसरे धातकीखण्ड को लपेटकर कालोदधि आया है। तत्पश्चात् पुष्करवर आदि द्वीपों को लपेटकर उन उन द्वीपों के नाम समान ही नामवाले समुद्र आए हैं ॥७०॥

आभरण–वत्थ–गंधे, उप्पल–तिलए य पउम–निहि–रयणे ।
वासहर–दह–नईओ, विजया वक्खार–कप्पिंदा ॥७१॥
कुरु–मंदर–आवासा, कूडा नक्खत्त–चन्द–सूरा य ।
अन्नेवि एवमाई, पसत्थवत्थूण जे नामा ॥७२॥
तन्नामा दीवुदही, तिपडोयायार हुंति अरुणाई ।
जम्बूलवणाईया, पत्तेयं ते असंखिज्जा ॥७३॥
ताणंतिम सूरवरा–वभासजलही परं तु इक्किक्का ।
देवे नागे जक्खे, भूये य सयंभूरमणे य ॥७४॥

अर्थ – अलंकार, वस्त्र, गंध, चन्द्रविकासी कमल, तिलक आदि वृक्ष, सूर्यविकासी कमल, नवनिधि, रत्न, वर्षधर पर्वत, द्रह, नदियाँ, विजय, वक्षस्कार पर्वत, देवलोक, इन्द्र, देवकुरु–उत्तरकुरु, मेरुपर्वत, आवास, शिखर, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य तथा अन्य भी ऐसी उत्तम वस्तुओं के जो नाम हैं, उन नामों के द्वीपसमुद्र हैं। अरुण विगेरे द्वीप–समुद्र त्रिप्रत्यवार है। जंबुद्वीप, लवणसमुद्र विगेरे सब असंख्य है। उनमें अन्तिम सूर्यवरावभास समुद्र है, उसके बाद देव, नाग, भूत तथा स्वयंभूरमण द्वीप–समुद्र एक–एक हैं ॥७१–७४॥

वारूणिवर खीरवरो–घयवर लवणो य हुंति भिन्नरसा ।
कालो य पुक्खरोदहि, सयंभूरमणो य उदगरसा ॥७५॥
इक्खुरस सेसजलहि, लवणे कालोए चरिमि बहुमच्छा ।
पण–सग–दसजोयणसय–तणु कमा थोव सेसेसु ॥७६॥

अर्थ – वारुणीवर समुद्र, क्षीरवर समुद्र, घृतवर समुद्र तथा लवणसमुद्र अपने नामानुसार स्वादवाले हैं। कालोदधि, पुष्करवर समुद्र तथा स्वयंभूरमण समुद्र पानी जैसे स्वादवाले हैं। शेष समुद्र ईक्षु के रस जैसे स्वादवाले हैं, लवणसमुद्र, कालोदधि और अन्तिम समुद्र में क्रमशः ५००, ७०० तथा १००० योजन के शरीरवाली अनेक मछलियाँ हैं। शेष समुद्र में कम मछलियाँ हैं ॥७५–७६॥

दो ससि दो रवि पढमे, दुगुणा लवणम्मि धायईसंडे ।
बारस ससि बारस रवि, तप्पभिइ निदिट्ठ ससि–रविणो ॥७७॥
तिगुणा पुव्विल्लजुया, अणंतराणंतरंमि खित्तम्मि ।
कालोए बायाला, बिसत्तरि पुक्खरद्धम्मि ॥७८॥

अर्थ – पहले जम्बूद्वीप में दो चन्द्र और दो सूर्य होते हैं, दूसरे लवणसमुद्र में चार चन्द्र और चार सूर्य, धातकी खण्ड में बारह चन्द्र और बारह सूर्य होते हैं । इस धातकीखण्ड के चन्द्र–सूर्य की संख्या को तीन गुना करने से जो संख्या आवे उस संख्या में पहले के द्वीप–समुद्रों के चन्द्र–सूर्यों की संख्या को (अर्थात् जम्बू और लवण के कुल मिलकर छः छः चन्द्र–सूर्य की संख्या को) जोड़ने से

बयालीस चन्द्र-सूर्य कालोदधि-समुद्र में हैं । इस उद्धुत संख्या को त्रिगुनी करके पूर्व के द्वीप-समुद्रगत सूर्य-चन्द्रों की संख्या को जोड़ने से जो संख्या प्राप्त हो उसका आधा करने से अर्ध पुष्करवर द्वीप में ७२-७२ की चन्द्र-सूर्यों की संख्या होती है ॥७७-७८॥

दो दो ससि-रविपंति, एगंतरिया छसट्ठि संखाया ।
मेरुं पयाहिणंता, माणुसखित्ते परिभमंति ॥७९॥

अर्थ - छियासठ छियासठ चन्द्र की संख्यावाली और छियासठ छियासठ सूर्य की संख्यावाली दोनों पंक्तियाँ मनुष्यक्षेत्र में मेरु को प्रदक्षिणा देती हुई सदाकाल परिभ्रमण करती है ॥७९॥

एवं गहाइणोवि हु, नवरं धुवपासवत्तिणो तारा ।
तं चिय पयाहिणंता, तत्थेव सया परिभमंति ॥८०॥

अर्थ - इसी प्रकार ग्रह इत्यादि की भी पंक्ति जाननी चाहिये, परन्तु ध्रुवतारे के समीप स्थित तारे उसकी ही प्रदक्षिणा करते हुए वहाँ घुमते रहते हैं ॥८०॥

पन्नरस चुलसीइ सयं, इह ससि-रविमण्डलाइं तक्खित्तं ।
जोयण पणसय दसहिअ, भागा अडयाल इगसट्ठा ॥८१॥

अर्थ - यहाँ चन्द्र और सूर्य के क्रमशः १५ तथा १८४ मंडल हैं । उनका क्षेत्र ५१०-४८/६१ योजन है ॥८१॥

तीसिगसट्ठा चउरो, एगिगसट्ठस्स सत्तभइयस्स ।
पणतीसं च दुजोयण, ससि-रविणो मण्डलंतरयं ॥८२॥

अर्थ - चन्द्र और सूर्य के मंडलों का अन्तर क्रमशः ३५ ३०/६१ ४/७ योजन व २ योजन है ॥८२॥

मण्डलदसगं लवणे, पणगं निसढम्मि होइ चंदस्स ।
मण्डल अन्तरमाणं, जाणपमाणं पुरा कहियं ॥८३॥

अर्थ - चन्द्र के १० मंडल लवणसमुद्र के ऊपर हैं और ५ मंडल निषधपर्वत के ऊपर हैं । मंडल के अंतर का प्रमाण और विमान का प्रमाण पूर्व में कहे गए अनुसार जाने ॥८३॥

पणसट्ठी निसढंमि य, दुन्नि य बाहा दुजोयणंतरिया ।
ईगुणवीसं तु सयं, सूरस्स य मंडला लवणे ॥८४॥

अर्थ - सूर्य के २ योजन के अंतरवाले ६५ मंडल निषधपर्वत पर हैं, उनमें से दो मंडल (हरिवर्षक्षेत्र की) भुजा पर हैं और ११९ मंडल लवणसमुद्र पर हैं ॥८४॥

ससिरविणो लवणंमि य, जोयणसय तिन्नि तीस अहियाइं ।
असीयं तु जोयणसयं, जंबुद्दीवंमि पविसन्ति ॥८५॥

अर्थ - चन्द्र-सूर्य लवणसमुद्र में ३३० योजन और जंबूद्वीप में १८० योजन तक प्रवेश करते हैं ॥८५॥

गह-रिक्ख-तारसंखं, जत्थेच्छसि नाउमुदहि-दीवे वा ।
तस्ससिहि एगससिणो, गुण संखं होई सव्वग्गं ॥८६॥

अर्थ - जिस द्वीप अथवा समुद्र में ग्रह-नक्षत्र-तारों की समग्र संख्या को जानने के लिए जब तू चाहे तब, उस उस द्वीप-समुद्रवर्त्ती चन्द्र की संख्या के साथ एक चन्द्र के परिवारभूत [८८ ग्रहादि] संख्या का गुना करने से सर्व संख्या प्राप्त होती है ॥८६॥

बत्तीसऽट्ठावीसा बारस अड चउ विमाणलक्खाइं ।
पन्नास चत्त छ सहस्स कमेण सोहम्ममाईसु ॥८७॥
दुसु सयचउ दुसु सयतिग-मिगारसहियं सयं तिगे हिट्ठा ।
मज्झे सत्तुत्तरसय-मुवरितिगे सयमुवरि पंच ॥८८॥

अर्थ - सौधर्म आदि देवलोक में क्रमशः ३२ लाख, २८ लाख, १२ लाख, ८ लाख, ४ लाख, ५०,०००, ४०,००० और ६,००० देवविमान हैं। दो देवलोक में ४००, दो देवलोक में ३००, नीचे के ३ ग्रैवेयक में १११, बीच के ३ ग्रैवेयक में १०७, ऊपर के ३ ग्रैवेयक में १०० तथा ऊपर (अनुत्तर में) ५ विमान हैं ॥८७-८८॥

चुलसीइ लक्ख सत्ता-णवइ सहस्सा विमाण तेवीसं ।
सव्वग्गमुड्ढलोगम्मि, इंदया बिसट्ठि पयरेसु ॥८९॥

अर्थ - वैमानिक में [आवलीगत और पुष्पावकीर्ण दोनों विमानों की समग्र संख्या को एकत्र करें तब] ८४९७०२३ की विमानसंख्या ऊर्ध्वलोक में प्राप्त होती है। प्रत्येक प्रतर में इन्द्रक विमान होने से सर्व प्रतरों के ६२ इन्द्रक विमान होते हैं ॥८९॥

चउदिसि चउपंतीओ, बासट्ठिविमाणिया पढमपयरे ।
उवरि इक्किक्कहीणा, अणुत्तरे जाव इक्किक्कं ॥९०॥

अर्थ - प्रत्येक कल्प में चारों दिशाओं में चार पंक्तियाँ होती हैं। उनमें प्रथम प्रतर में बासठ-बासठ विमानों की चार पंक्तियाँ हैं। पश्चात् ऊपर जाने पर प्रथम प्रतर से एक-एक

विमान (चारों पंक्तियों में से) हीन हीन करते जाना यह अनुत्तर से यावत् एक-एक रहे तब तक ॥९०॥

इंदयवट्टा पंतीसु, तो कमसो तंस चउरंसा वट्टा ।
विविहा पुप्फवकिण्णा, तयंतरे मुत्तुं पुव्वदिसिं ॥९१॥

अर्थ - पंक्तियों में इन्द्रक विमान गोल हैं, पश्चात् पंक्ति में प्रथम त्रिकोण, फिर चौकोर, और फिर गोल विमान ऐसा क्रम होता है और पुष्पावकीर्ण विमान विविधाकारवाले हैं और ये पुष्पावकीर्ण विमान पूर्वदिशा की पंक्ति को वर्जित करके शेष तीनों पंक्तियों के आंतरे में समझना ॥९१॥

एगं देवे दीवे, दुवे य नागोदहीसु बोद्धव्वे ।
चत्तारि जक्खदीवे, भूयसमुद्देसु अट्ठेव ॥९२॥

अर्थ - देवद्वीप पर १, नागसमुद्र पर दो, यक्षद्वीप पर ४ और भूतसमुद्र पर ८ विमान जानने चाहिये ॥९२॥

सोलससयंभूरमणे, दीवेसु पइठिया य सुरभवणा ।
इगतीसं च विमाणा, सयंभूरमणे समुद्दे य ॥९३॥

अर्थ - स्वयंभूरमणद्वीप पर १६ और स्वयंभूरमण समुद पर ३१ देवविमान प्रतिष्ठित हैं ॥९३॥

वट्टं वट्टस्सुवरिं, तंसं तंसस्स उवरिमं होइ ।
चउरंसे चउरंसं, उड्ढं तु विमाणसेढीओ ॥९४॥

अर्थ - प्रथम प्रतर में जिस स्थान पर वर्तुल विमान है उसके ऊपर के प्रतर में समश्रेणि में वर्तुल ही होता है, त्रिकोण पर त्रिकोण ही होता है और चौकोर पर चौकोर विमान होते हैं,

इस तरह ऊर्ध्व विमान की श्रेणियाँ आई हैं ॥९४॥

सव्वे वट्टविमाणा, एगदुवारा हवंति नायव्वा ।
तिण्णि य तंसविमाणे, चत्तारि य हुंति चउरंसे ॥९५॥

अर्थ – सर्व गोलाकार विमानों के एक ही द्वार होता है, त्रिकोण विमानों के तीन द्वार होते हैं और चौकोर विमानों के चार द्वार हैं ॥९५॥

पागारपरिक्खित्ता, वट्टविमाणा हवंति सव्वे वि ।
चउरंसविमाणाणं, चउद्दिसिं वेइया होइ ॥९६॥

अर्थ – आवलिका प्रविष्ट सर्व वर्तुल विमान चारों तरफ गढ से आवृत्त होते हैं । चौकोर विमानों के चारों तरफ वेदिकाएँ होती हैं ॥९६॥

जत्तो वट्टविमाणा, तत्तो तंसस्स वेइया होइ ।
पागारो बोद्धव्वो, अवसेसेसुं तु पासेसुं ॥९७॥

अर्थ – जिस दिशा में वर्तुल विमान हैं, उसके सम्मुख त्रिकोण विमानों की वेदिकाएँ होती हैं । (कंगुरे से रहित गढ) और शेष दिशाओं में कंगुरे के साथ गढ होते हैं ॥९७॥

आवलियविमाणाणं, तु अन्तरं नियमसो असंखिज्जं ।
संखिज्जमसंखिज्जं, भणियं पुप्फावकिण्णाणं ॥९८॥

अर्थ – आवलिकागत विमानों का परस्पर अन्तर असंख्याता योजन का होता है । जब कि पुष्पावकीर्ण विमानों का परस्पर अन्तर प्रमाण संख्याता योजन का तथा असंख्याता योजन का भी होता है ॥९८॥

अच्चंतसुरहिगंधा, फासे नवणीयमउयसुहफासा ।
निच्चुज्जोआ रम्मा, सयंपहा ते विरायंति ॥९९॥

अर्थ – ये विमान अत्यन्त सुरभिगंधवाले और स्पर्श करने से मक्खन की तरह मृदु-सुकोमल, तथा सुखकारी स्पर्शवाले, निरन्तर उद्योत करनेवाले, रमणीय और तथाविध जगत्स्वभाव से स्वयंप्रभा-तेजवाले (गगनमण्डल में) शोभित हैं ॥९९॥

जे दक्खिणेण इंदा, दाहिणओ आवली मुणेयव्वा ।
जे पुण उत्तर इंदा, उत्तरओ आवली मुणे तेसिं ॥१००॥

अर्थ – दक्षिण दिशा में रहे आवलिकागत विमान दक्षिणेन्द्रों के जानें और उत्तर दिशा में रहे आवलिकागत विमान उत्तरेन्द्रो के जानें ॥१००॥

पुव्वेण पच्छिमेण य, सामण्णा आवली मुणेयव्वा ।
जे पुण वट्टविमाणा, मज्झिल्ला दाहिणिल्लाणं ॥१०१॥

अर्थ – पूर्व तथा पश्चिम दिशा की पंक्ति सामान्यतः जानें । उसमें प्रतरमध्य में वर्त्तित गोल इन्द्रक विमानों को दक्षिणेन्द्रों के ही जानें ॥१०१॥

पुव्वेण पच्छिमेण य, जे वट्टा ते वि दाहिणिल्लस्स ।
तंस चउरंसगा पुण, सामण्णा हुंति दुण्हंपि ॥१०२॥

अर्थ – पूर्व और पश्चिम दिशागत पंक्तियों में रहे जो गोल विमान हैं वे दक्षिण दिशा में वर्त्तित इन्द्रों के होते हैं । और शेष त्रिकोण और चौकोर विमान सामान्यतः दोनों के भी होते हैं ॥१०२॥

पढमंतिमपयरावलि-विमाणमुहभूमि तस्समासद्धं ।
पयर गुणमिट्ठकप्पे, सव्वग्गं पुप्फकिन्नियरं ॥१०३॥

अर्थ - पहली प्रतर श्रेणी की विमानसंख्या 'मुख' कहलाती है और अन्तिम प्रतरों की विमान संख्या उसकी 'भूमि' कहलाती है। इन दोनों संख्याओं को जोड़कर उसका आधा कर देना, फिर उसका इच्छित कल्पना प्रतरों की संख्या के साथ गुना करना जिससे सर्व आवलिकागत विमानसंख्या प्राप्त होगी और शेष संख्या वहाँ के पुष्पावकीर्ण विमानों की जानें ॥१०३॥

इगदिसिपंतिविमाणा, तिविभत्ता तंस चउरंसा वट्टा ।
तंसेसु सेसमेग, खिव सेस दुगस्स इक्किक्कं ॥१०४॥
तंसेसु चउरंसेसु य, तो रासि तिगंपि चउगुणं काउ ।
वट्टेसु इंदयं खिव, पयरधणं मीलियं कप्पे ॥१०५॥

अर्थ - किसी भी एक दिशागत पंक्ति विमानों को त्रिभाग में समान रूप से बाँट देना, बाँटने पर यदि एक संख्या शेष रहे तो उसे बाँटते हुए समान त्रिकोण संख्या में जोड़ें, लेकिन यदि दो की संख्या शेष रहे तो एक त्रिकोण में और एक चौकोन में जोड़ दें। फिर इस प्रत्येक राशि को चार से गुणा कर दें, वृत्त राशि जो आए उसमें इन्द्रक का क्षेपण करें क्योंकि वह वृत्त है। इस तरह करने से इष्ट प्रतर की तीनों जाति के विमानों की संख्या आएगी, और उस उस कल्प के यथायोग्य प्रतर की भिन्न भिन्न संख्या को एकत्र करने से इष्ट कल्प में त्रिकोणादि विमान संख्या आएगी ॥१०४-१०५॥

सत्तसय सत्तवीसा, चत्तारि सया य हुन्ति चउनउया ।
चत्तारि य छासीया सोहम्मे हुन्ति वट्टाई ॥१०६॥

अर्थ - सौधर्म देवलोक में गोल आदि विमान क्रमशः ७२७, ४९४, ४८६ हैं ॥१०६॥

एमेव य इसाणे, नवरं वट्टाण होई नाणत्तं ।
दो सय अट्ठतीसा, सेसा जह चेव सोहम्मे ॥१०७॥

अर्थ - ईशान देवलोक में इसी प्रकार है, परन्तु गोलविमानों में अंतर है। वे २३८ है। शेष विमान सौधर्म की भाँति हैं ॥१०७॥

पुव्वावरा छलंसा, तंसा पुण दाहिणुत्तरा बज्झा ।
अब्भिन्तर चउरंसा, सव्वावि य कण्हराईओ ॥१०८॥

अर्थ - पूर्व-पश्चिम में षट्कोण, दक्षिण-उत्तर में बाहर का त्रिकोण और अन्दर की सभी (लंब) चोकोर कृष्णराजियाँ हैं ॥१०८॥

चुलसि असिइ बावत्तरि, सत्तरि सट्ठी य पन्न चत्ताला ।
तुल्लसुर तीस वीसा, दस सहस्सा आयरक्ख चउगुणिया ॥१०९॥

अर्थ - १२ देवलोक में क्रमशः ८४,०००, ८०,०००, ७२,०००, ७०,०००, ६०,०००, ५०,०००, ४०,०००, ३०,०००, २०,००० और १०,००० सामानिक देव हैं। उनसे चारगुना आत्मरक्षक देव हैं ॥१०९॥

कप्पेसु य मिय महिसो, वराह-सीहा य छगल-सालूरा ।
हय-गय-भुयंग-खग्गी-वसहा-विडिमाइं चिंधाई ॥११०॥

अर्थ - १२ देवलोक में देवों के हिरण, भैंसा, सूअर,

सिंह, बकरा, मेढक, घोड़ा, हाथी, सर्प, गैंडा, बैल तथा विडिम (मृगविशेष) के चिह्न हैं ॥११०॥

दुसु तिसु तिसु कप्पेसु, घणुदहि घणवाय तदुभयं च कमा ।
सुर भवण पइट्ठाणं, आगासपइट्ठिया उवरिं ॥१११॥

अर्थ - प्रथम के दो कल्पों में घनोदधि का आधार, तत्पश्चात् तीसरे, चौथे और पाँचवें इन तीनों कल्पों में घनवात का आधार, छठे-सातवें और आठवें इन तीनों कल्पों में घनोदधि और घनवात का आधार, तत्पश्चात् ऊपर के सर्व कल्प शुद्ध आकाशाधार पर प्रतिष्ठित हैं ॥१११॥

सत्तावीस सयाइं, पुढवीपिंडो विमाणउच्चत्तं ।
पंचसया कप्पदुगे, पढमे तत्तो य इक्किक्कं ॥११२॥
हायइ पुढवीसु सयं, वड्ढइ भवणेसु दु-दु-दु कप्पेसु ।
चउगे नवगे पणगे, तहेव जाऽणुत्तरेसु भवे ॥११३॥
इगवीससया पुढवी, विमाणमिक्कारसेव य सयाइं ।
बत्तीस जोयण सया, मिलिया सव्वत्थ नायव्वा ॥११४॥

अर्थ - पहले दो देवलोक में विमान के मूलप्रासाद के शिखर तक का पिण्डप्रमाण सत्ताइस सौ योजन का होता है। और विमान की ऊँचाई पाँच सौ योजन होती है । बाद के दो कल्पों में-पुनः दो कल्पों में-पुनः दो कल्पों में-फिर चार देवलोक में-नवग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर में जाने पर तीसरे देवलोक से लेकर पूर्व पूर्व कल्प के पृथ्वीपिण्ड में से सौ सौ योजन कम करते और पूर्व पूर्व कल्प की विमान ऊँचाई

में सौ सौ योजन बढ़ाते हुए प्रत्येक कल्प में उस उस प्रमाण को दिखाते जाना । जिससे अनुत्तर में २१०० योजन पृथ्वीपिण्ड प्रमाण और ११०० योजन ऊँचाई आ जाएगी । प्रत्येक कल्पगत विमान का पृथ्वीपिण्डप्रमाण और विमान ऊँचाई मिलाने से ३२०० योजन आए ॥११२-११४॥

पण-चउ-ति-दुवण्ण विमाण,
सधय दुसुदुसु य जा सहस्सारो ।
उवरि सिय भवणवंतर-
जोइसियाणं विविहवण्णा ॥११५॥

अर्थ - सहस्रार देवलोक तक दो-दो देवलोक में ध्वजासहित विमान ५, ४, ३, २ वर्ण के हैं । ऊपर के विमान सफेद हैं। भवनपति, व्यंतर और ज्योतिष के विमान विविध वर्ण के हैं ॥११५॥

रविणो उदयत्थंतर, चउणवइसहस्स पणसय छवीसा ।
बायाल सट्ठिभागा, कक्कडसंकंति दियहम्मि ॥११६॥

अर्थ - कर्कसंक्रान्ति के दिन सूर्य के उदय और अस्त का अन्तर ९४,५२६ ४२/६० योजन है ॥११६॥

एयम्मि पुणो गुणिए, ति-पंच-सग-नवहिं होइ कममाणु ।
तिगुणम्मी दो लक्खा, तेसीई सहस्स पंचसया ॥११७॥
असिइ छ सट्ठिभागा, जोयण चउलक्ख बिसत्तरिसहस्सा ।
छच्चसया तेत्तीसा, तीसकला पंचगुणियम्मि ॥११८॥

अर्थ – पहले उदयास्तका ९४५२६ योजन ४२/६० भाग प्रमाण जो कहा उसे तीन गुना, पाँचगुना, सातगुना और नौगुना करने से वह, वह प्रमाण आता है । उसमें उदयास्त प्रमाण को तीन गुना करने से २,८३,५८० योजन ६/६० भाग प्रमाण आता है और पाँचगुना करें तो ४,७२,६३३ योजन ३०/६० भाग प्रमाण आता है ॥११७-११८॥

सत्तगुणे छलक्खा, इगसट्ठि सहस्स छसय छासीया ।
चउपन्न कला तह नव-गुणम्मि अडलक्ख सड्ढाओ ॥११९॥
सत्तसया चत्ताला, अट्ठार कला य इय कमा चउरो ।
चंडा-चवला-जयणा, वेगा य तहा गइ चउरो ॥१२०॥

अर्थ – उस उदयास्त अन्तर को सात गुना करने से ६,६१,६८६ योजन ५४/६० भाग प्रमाण आए, और उसी तरह नौगुना करने से ८,५०,७४० योजन १८/६० भाग प्रमाण आए। उन चारों प्रमाणों को अनुक्रम से चंडा-चपला-जवणा और वेगा ये चार गति के साथ (यथासंख्य) योजें ॥११९-१२०॥

इत्थ य गइं चउत्थिं, जयणयरिं नाम केइ मन्नंति ।
एहिं कमेहिमिमाहिं, गईहिं चउरो सुरा कमसो ॥१२१॥
विक्खंभं आयामं, परिहिं अब्भितरं च बाहिरियं ।
जुगवं मिणंति छमास, जाव न तहावि ते पारं ॥१२२॥

अर्थ – कुछ लोग यहाँ चौथी गति को जवनतरी मानते हैं । इन चार कदमों के रूप में चार गति के द्वारा चार देव क्रमशः चौड़ाई-लम्बाई तथा अन्दर और बाहर की परिधि

को एक साथ छः महीने तक मापते हैं ॥१२१-१२२॥

पावंति विमाणाणं, केसिंपि हु अहव तिगुणियाए ।
कम चउगे पत्तेयं, चंडाई गईउ जोइज्जा ॥१२३॥
तिगुणेण कप्प चउगे, पंचगुणेणं तु अट्ठसु मुणिज्जा ।
गेविज्जे सत्तगुणेण, नवगुणेऽणुत्तर चउक्के ॥१२४॥

अर्थ – प्रथम के चार देवलोकगत कुछ विमानों का पार पाने के लिए चण्डा-चपला-जवणा और वेगा, इस प्रत्येक गति का पहले कहे गए प्रमाण से प्रत्येक गति को त्रिगुनी वेगवती करके चलने लगे तो पार पा सकती है । तत्पश्चात् पाँचवें से लेकर अच्युत देवलोक तक के विमानों का पार पाने के लिए प्रत्येक पाँचगुनी करके उतने योजनप्रमाण गति से चलने लगे तो पार पाता है। नौ ग्रैवेयक के विमान सातगुनी गति से चलने लगे तो पार पाए, और अनुत्तर के चार विमानों का पार पाने को नौगुनी गति करे तब पार पाते हैं ॥१२३-१२४॥

पढमपयरम्मि पढमे, कप्पे उडुनाम इंदयविमाणं ।
पणयाललक्खजोयण, लक्खं सव्वुवरिसव्वट्ठं ॥१२५॥

अर्थ – वैमानिक निकाय के प्रथम सौधर्मकल्प के प्रथम प्रतर में 'उडु' नामक इन्द्रकविमान पैंतालीस लाख योजन का वृत्त अर्थात् गोलाकारयुक्त है और सबसे ऊपर बासठवें प्रतर में अनुत्तरकल्प में एक लाख योजन प्रमाण का गोलाकार 'सर्वार्थसिद्ध' नामक विमान आया है ॥१२५॥

उडु-चंद-रयय-वग्गू-वीरिय-वरुणे-तहेव आणंदे ।
बंभे कंचण-रूइले [रे], चदं अरुणे य वरुणे य ॥१२६॥
वेरुलिय रुयग-रुइरे, अंके फलिहे तहेव तवणिज्जे ।
मेहे अग्ध-हालिद्दे, नलिणे तह लोहियक्खे य ॥१२७॥
वइरे अंजण-वरमाल-रिट्ठे तह य देव-सोम मंगनअे ।
बलभद्दे अ, चक्क-गया-सोवत्थिय णंदियावत्ते ॥१२८॥
आभंकरे य गिद्धि, केऊ-गरुले य होइ बोद्धव्वे ।
बंभे बंभहिए पुण, बंभोत्तर-लंतए चेव ॥१२९॥
महसुक्क-सहसारे, आणय तह पाणए य बोद्धव्वे ।
पुप्फेऽलंकारे अ, आरणे (य) तह अच्चुए चेव ॥१३०॥
सुदंसण-सुप्पडिबद्धे, मणोरमे चेव होइ-पढमतिगे ।
तत्तो य सव्वओभद्दे, विसाले य सुमणे चेव ॥१३१॥
सोमणरो पीइकरे, आइच्चे चेव होइ तइयतिगे ।
सव्वट्ठसिद्धिनामे, सुरिंदया एव बासट्ठि ॥१३२॥

अर्थ – उडु, चन्द्र, रजत, वल्गु, वीर्य, वरुण, आनन्द, ब्रह्म, कांचन, रुचिर, चन्द्र, अरुण और वरुण – (ये पहले, दूसरे देवलोक के इन्द्रक विमान हैं ।) वैडुर्य, रुचक, रुचिर, अंक, स्फटिक, तपनीय, मेघ, अर्घ, हालिद्र, नलिन, लोहिताक्ष और वज्र – (ये तीसरे-चौथे देवलोक के इन्द्रक विमान हैं ।) अंजन, वरमाल, रिष्ट, देव, सोम, मंगल – (ये ब्रह्मलोक देवलोक के इन्द्रक विमान हैं ।) बलभद्र, चक्र, गदा, स्वस्तिक, नंदावर्त – (ये लान्तक देवलोक के इन्द्रक विमान हैं ।) आभंकर, गृद्धि,

केतु और गरुड – (इन्हें महाशुक्र देवलोक के इन्द्रक विमान जानें ।) ब्रह्म, ब्रंह्महित, ब्रह्मोतर, लातंक – (ये सहस्रार देवलोक के इन्द्रक विमान है) महाशुक्र, सहस्रार, आनत और प्राणत – (ये आनत-प्राणत देवलोक के इन्द्रक विमान हैं ।) पुष्प, अलंकार, आरण और अच्युत – (ये आरण-अच्युत देवलोक के इन्द्रक विमान हैं ।) (ग्रैवेयक की) पहली त्रिक में सुदर्शन, सुप्रतिबद्ध और मनोरम (ये इन्द्रक विमान हैं ।) उसके बाद (दूसरी त्रिक में) सर्वतोभद्र, विशाल और सुमन (ये इन्द्रक विमान हैं ।) तीसरे त्रिक में सोमनस, प्रीतिकर और आदित्य – (ये इन्द्रक विमान हैं ।) सर्वार्थसिद्ध नामका (इन्द्रक विमान) है। इस प्रकार देवों के ६२ इन्द्रक विमान हैं ॥१२६-१३२॥

पणयालीसं लक्खा, सीमंतय माणुसं उडु सिवं च ।
अपइट्ठाणो सव्वट्ठ, जम्बूदीवो इमं लक्खं ॥१३३॥

अर्थ – इस चौदह राजलोक में पहले नरक के प्रथम प्रतर में आये हुए सीमन्त नामक नरकावास, मनुष्यक्षेत्र, उडु नामक विमान और सिद्धशिला ये चारों पैंतालीस लाख योजन प्रमाणयुक्त हैं और सातवें नरक के अन्तिम प्रतर में अप्रतिष्ठान नरकावास तथा अनुत्तर कल्प में स्थित सर्वार्थसिद्ध नामक विमान और जम्बूद्वीप ये तीनों वृत-वस्तुएँ एक लाख योजन प्रमाणयुक्त है ॥१३३॥

अह भागा सगपुढवीसु, रज्जु इक्किक्क तह य सोहम्मे ।
माहिंद लंत सहसारऽच्चुय, गेविज्ज लोगंते ॥१३४॥

अर्थ – अधोभाग में सातों नरक पृथ्वी एक एक राज प्रमाण समझें, जिससे सात नरक पूरे होने पर सात राज होते हैं। इसे स्थूल परिभाषा समझना और वहाँ से लेकर सौधर्म युगल में आठवाँ राज, माहेन्द्र में नौवाँ राज, लान्तक के दस, सहस्त्रार के ग्यारह, आरण-अच्युत के बारह, नवग्रैवेयक के तेरह और वहाँ से लोकान्त का चौदहवाँ राज पूर्ण होता है ॥१३४॥

सम्मत्तचरणसहिया, सव्वं लोगं फुसे निरवसेसं ।
सत्त य चउदस भाए, पंच य सुय देसविरईए ॥१३५॥

अर्थ – सम्यक्त्व-चारित्र सहित जीव सर्वलोक को संपूर्णतया स्पर्श करते हैं। श्रुतज्ञानी लोक के ७/१४ भाग को स्पर्श करते हैं। देशविरत लोक के ५/१४ भाग को स्पर्श करते हैं। ॥१३५॥

भवण-वण-जोइ-सोहम्मीसाणे सत्तहत्थ तणुमाणं ।
दु दु दु चउक्के गेवि-ज्जऽणुत्तरे हाणि इक्किक्के ॥१३६॥

अर्थ – भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा वैमानिक निकाय में प्रथम-सौधर्म-ईशान इन दोनों देवलोक के देवों का देहमान सात हाथ का, उसके बाद तीन बार दो-दो देवलोक के जोड़ में, तदनन्तर कल्पचतुष्क में, बाद में गैवेयक में और अनुत्तर में अनुक्रम से एक-एक हाथ की हानि करे ॥१३६॥

कप्पदुग-दु-दु-दु-चउगे, नवगे पणगे य जिट्ठठिइ अयरा ।
दो सत्त चउदऽट्ठारस, बावीसिगतीस तित्तीसा ॥१३७॥

अर्थ – वैमानिकनिकाय के प्रथम दो कल्प में उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति दो सागरोपम की है। उसके बाद सनत्कुमार-माहेन्द्र युगल की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की, ब्रह्म और लांतक कल्प में चौदह सागरोपम की, शुक्र सहस्त्रार युगल की अठारह सागरोपम की, आनत-प्राणत और आरण-अच्युत इन चारों कल्पों में बाईस सागरोपम की, नौ ग्रैवेयक में इकतीस सागरोपम की और पाँच अनुत्तर में तेत्तीस सागरोपम की आयुष्य स्थिति है ॥१३७॥

विवरे ताणिक्कूणे, इक्कारसगाउ पाडिए सेसा ।
हत्थिक्कारसभागा, अयरे अयरे समहियम्मि ॥१३८॥
चय पुव्वसरीराओ, कमेण एगुत्तराइ वुड्ढीए ।
एवं ठिइविसेसा, सणंकुमाराईतणुमाणं ॥१३९॥

अर्थ – उत्तरकल्पगत अधिक स्थिति में से पूर्वकल्पगत की जो कम स्थिति है उसको कम (विश्लेष) करके, आयी हुई संख्या में से एक की संख्या कम करे, और अब जो संख्या आये उसे एक हाथ के ग्यारह भाग कल्पित करके उनमें से कमी करने के बाद जो संख्या शेष रहे उसको पुनः (फिर से) पूर्वपूर्वकल्पगत अन्तिम प्रतरवर्ती यथोक्त शरीर-प्रमाण में से कमी करने से जितनी हस्त संख्या और ग्यारहवें भागों की संख्या आये वह, यथोत्तर कल्प में प्रारम्भ के प्रतर पर जितने सागरोपम की स्थितिवाले देव होते हैं उनका शरीरप्रमाण आयेगा। पुनः उसी प्रतर के आयुष्य में एक

एक सागरोपम की वृद्धि करता जाए और साथ साथ (उत्तरोत्तर देहमान घटते जाने से) शेष रहते ग्यारहवें भागों में से एक एक भाग अनुक्रम में आगे आगे हीन (कमी) करते जाना ।

इस तरह करते करते प्रत्येक कल्पगत यथोक्त सागरोपम की स्थितिवाले देवों का सम्पूर्ण शरीरप्रमाण आता है ॥१३८-१३९॥

भवधारणिज्ज एसा, उत्तरवेउव्वि जोयणा लक्खं ।
गेविज्ज-ऽणुत्तरेसु, उत्तरवेउव्विया नत्थि ॥१४०॥

अर्थ – यह भवधारणीय शरीर है। उत्तरवैक्रिय शरीर १ लाख योजन का है । ग्रैवेयक अनुत्तर में उत्तरवैक्रिय शरीर नहीं है ॥१४०॥

साहाविय वेउव्विय, तणू जहन्ना कमेण पारंभे ।
अंगुलअसंखभागो, अंगुलसंखिज्जभागो य ॥१४१॥

अर्थ – स्वाभाविक तथा (उत्तर) वैक्रिय शरीर प्रारम्भकाल में जघन्य से अनुक्रम से अंगुल के संख्यातवें भाग का तथा अंगुल के असंख्यातवें भाग का होता है ॥१४१॥

सामन्नेणं चउविह-सुरेसु बारस मुहुत्त उक्कोसो ।
उववायविरहकालो, अह भवणाईसु पत्तेयं ॥१४२॥

अर्थ – सामान्य से चारों प्रकार के देवों में उपपात विरहकाल उत्कृष्ट से १२ मुहूर्त्त है । अब भवनपति आदि प्रत्येक का उपपात विरहकाल कहूँगा ॥१४२॥

भवणवणजोइसोह-म्मीसाणेसु मुहुत्त चउवीसं ।
तो नव दिण वीस मुहू, बारस दिण दस मुहुत्ता य ॥१४३॥
बावीस सड्ढ दियहा, पणयाल असीइ दिणसयं तत्तो ।
संखिज्जा दुसु मासा, दुसु वासा तिसु तिगेसु कमा ॥१४४॥
वासाण सया सहस्सा, लक्खा तह चउसु विजयमाईसु ।
पलियाऽसंखभागो, सव्वट्ठे संखभागो य ॥१४५॥

अर्थ – भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष, सौधर्म, ईशान में २४ मुहूर्त्त, उसके बाद (सनत्कुमार में) ९ दिन २० मुहूर्त्त, (माहेन्द्र में) १२ दिन और १० मुहूर्त्त (ब्रह्मलोक में) साढ़े बाईस दिन, (लांतक में) ४५ दिन, महाशुक्र में ८० दिन (सहस्रार में) १०० दिन, फिर दो में संख्यात मास, दो में संख्यात वर्ष, तीन त्रिक में क्रमशः संख्यात सौ वर्ष, संख्यात हजार वर्ष और संख्यात लाख वर्ष, और विजय आदि चार में पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और सर्वार्थसिद्ध में पल्योपम का संख्यातवाँ भाग (उपपात विरहकाल है) ॥१४३-१४५॥

सव्वेसिंपि जहन्नो, समओ एमेव चवणविरहोऽवि ।
इगदुतिसंखमसंखा, इगसमए हुंति य चवन्ति ॥१४६॥

अर्थ – सबका जघन्य उपपात विरहकाल जघन्य से १ समय है, इसी प्रकार च्यवन विरहकाल भी जानें । १ समय में १, २, ३, संख्यात अथवा असंख्यात उत्पन्न होता है और च्यवन करता है ॥१४६॥

नरपंचिंदियतिरिया-णुप्पत्ती सुरभवे पज्जत्ताणं ।
अज्झवसायविसेसा, तेसिं गइतारतम्मं तु ॥१४७॥

अर्थ - पर्याप्ता पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंचों की देवलोक में अध्यवसाय की विशेषता से उत्पत्ति होती है और पुनः अध्यवसाय की विशेषता से उस निकाय में तारतम्य भी होता है ॥१४७॥

नरतिरि असंखजीवी, सव्वे नियमेण जंति देवेसु ।
नियआउसमहीणाउएसु ईसाणअंतेसु ॥१४८॥

अर्थ - असंख्य वर्ष के आयुष्यवाले मनुष्य तथा तिर्यंच सभी नियमा-निश्चे देवलोक में उत्पन्न होते हैं और वे भी निजायुष्य समान अथवा तो हीन स्थिति के रूप में ईशानान्त कल्प तक ही उत्पन्न होते हैं ॥१४८॥

जंति समुच्छिमतिरिया, भवणवणेसु न जोइमाईसुं ।
जं तेसिं उववाओ, पलिआऽसंखंसआऊसु ॥१४९॥

अर्थ - संमूर्च्छिम तिर्यंच भवनपति और व्यंतर में जाते हैं । ज्योतिष आदि में नहीं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति पल्योपम के असंख्यातवें भाग के आयुष्यवाले में होता है ॥१४९॥

बालतवे पडिबद्धा, उक्कडरोसा तवेण गारविया ।
वेरेण य पडिबद्धा, मरिउं असुरेसु जायंति ॥१५०॥

अर्थ - बालतप करनेवाले, उत्कट रोषवाले, तप के अभिमानवाले और वैरवाले जीव मरकर असुरकुमार देवों में उत्पन्न होते हैं ॥१५०॥

रज्जुग्गह-विसभक्खण-जल-जलणपवेस-तण्ह-छुहदुहओ ।
गिरिसिरपडणाउ मया, सुहभावा हुंति वंतरिया ॥१५१॥

अर्थ - फाँसी लगाने से, विषभक्षण से पानी या अग्नि में प्रवेश करने से, प्यास अथवा भूख के दुःख से, पर्वत के शिखर पर से गिरकर मरनेवाले जीव शुभभाव से व्यंतर होते हैं ॥१५१॥

तावस जा जोइसिया, चरग-परिव्वाय बंभलोगो जा ।
जा सहस्सारो पंचिंदि-तिरिअ जा अच्चुओ सड्ढा ॥१५२॥

अर्थ - तपस्वी ज्योतिष तक, चरक-परिव्राजक ब्रह्मलोक तक पंचेन्द्रिय तिर्यंच सहस्रार तक तथा श्रावक अच्युत तक जाते हैं ॥१५२॥

जइलिंग मिच्छदिट्ठी, गेविज्जा जाव जंति उक्कोसं ।
पयमवि असद्दहंतो, सुत्तत्थं मिच्छदिट्ठी उ ॥१५३॥

अर्थ - साधु के वेषवाले मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट से ग्रैवेयक तक जाते हैं । सूत्र अथवा अर्थ के एक पद के प्रति भी अश्रद्धा करनेवाले जीव मिथ्यादृष्टि हैं ॥१५३॥

सुत्तं गणहररइयं, तहेव पत्तेयबुद्धरइयं च ।
सुयकेवलिणा रइयं, अभिन्नदसपुव्विणा रइयं ॥१५४॥

अर्थ - जो शास्त्र-ग्रन्थ गणधर भगवन्त रचित, प्रत्येकबुद्ध रचित, श्रुतकेवली रचित और सम्पूर्ण दशपूर्वी रचित हैं, उन्हें सूत्र कहा जाता है ॥१५४॥

छउमत्थसंजयाणं, उववाओ उक्कोसओ सव्वट्ठे ।
तेसिं सड्ढाणंपि य, जहन्नओ होइ सोहम्मे ॥१५५॥
लंतम्मि चउदपुव्विस्स, तावसाईण वंतरेसु तहा ।
एसो उववायविही, नियनियकिरियठियाण सव्वोऽवि ॥१५६॥

अर्थ - छद्मस्थ यति का उपपात उत्कृष्ट से सर्वार्थसिद्ध में होता है । यति का तथा श्रावक का भी जघन्य उपपात सौधर्म में होता है चौदपूर्वी की लांतक में ओर तापसो की व्यंतर में जघन्य उत्पत्ति हैं । ये उत्पत्ति की सब विधि अपने अपने आचार में रहे हुए की समझनी ॥१५५-१५६॥

वज्जरिसहनारायं, पढमं बीअं च रिसहनारायं ।
नारायमद्धनारायं, कीलिया तह य छेवट्ठं ॥१५७॥
एए छ संघयणा, रिसहो पट्टो य कीलियावज्जं ।
उभओ मक्कडबंधो नाराओ होइ विन्नेओ ॥१५८॥

अर्थ - पहला वज्रऋषभनाराच, दूसरा ऋषभनाराच, तीसरा नाराच, चौथा अर्धनाराच, पाँचवाँ कीलिका, छठा छेदस्पृष्ट-छेवट्ठुं इस प्रकार छः संघयण हैं। उनमें वज्रऋषभनाराच का अर्थ [गाथा में ही] करते हुए बतलाते हैं कि वज्र-कीलिका (अर्थात् कीलि, मनुष्य के शरीर में एक अस्थि), ऋषभ अर्थात् पट्टा और नाराच अर्थात् उभय दोनों ओर मर्कटबन्ध जानें ॥१५७-१५८॥

छ गब्भतिरिनराणं, समुच्छिमपणिंदिविगल छेवट्ठं ।
सुरनेरइया एगिं-दिया य सव्वे असंघयणा ॥१५९॥

अर्थ - गर्भज, तिर्यंच और मनुष्यों को छे, संमूर्च्छिम, पंचेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय को छेवट्ठु संघयण होता है । देव, नारकी और एकेन्द्रिय सभी संघयण रहित हैं ॥१५९॥

छेवट्ठेण उ गम्मइ, चउरो जा कप्प कीलिआईसु ।
चउसु दुदुकप्पवुड्ढी, पढमेणं जाव सिद्धीवि ॥१६०॥

अर्थ - छेवट्ठा संघयण के द्वारा चार देवलोक तक जाया जाता है । कीलिका आदि चार संघयण होते हुए दो-दो देवलोक की वृद्धि करें । पहले संघयण के द्वारा सिद्धि तक भी जाया जा सकता है ॥१६०॥

समचउरंसे निग्गोह, साइ वामणय खुज्ज हुंडे य ।
जीवाण छ संठाणा, सव्वत्थ सुलक्खणं पढमं ॥१६१॥
नाहीइ उवरि बीअं, तइअमहो पिट्ठि-उअरउरवज्जं ।
सिर-गीव-पाणि-पाए, सुलक्खणं तं चउत्थं तु ॥१६२॥
विवरीअं पंचमगं, सव्वत्थ अलक्खणं भवे छट्ठं ।
गब्भयनरतिरिअ छहा, सुरासमा-हुंडया सेसा ॥१६३॥

अर्थ - समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज और हुंडक ये जीवों के छः संस्थान हैं। इन सब में अधिक सुलक्षणयुक्त पहला, नाभि से ऊपर लक्षणयुक्त दूसरा, नाभि से नीचे का ही लक्षणयुक्त तीसरा, पीठ-उदर-उर आदि को छोडकर शिर-ग्रीवा-हाथ-पग इत्यादि लक्षणयुक्त हों वह चौथा, उससे विपरीत पाँचवाँ और इन सबसे लक्षणरहित जो है वह है छठा, गर्भज नर-तिर्यंचों को छः संस्थानवाले, देवों को समचतुरस्त्र और शेष जीवों को हुंडक संस्थानवाले समझें ॥१६१-१६३॥

जंति सुरा संखाउय-गब्भयपज्जत्तमणुअतिरिएसु ।
पज्जत्तेसु य बायर-भूदगपत्तेयगवणेसु ॥१६४॥
तत्थवि सणंकुमार-प्पभिई एगिंदिएसुं नो जंति ।
आणयपमुहा चविउं, मणुएसु चेव गच्छंति ॥१६५॥

अर्थ - देवगण संख्याता वर्ष उम्रवाला जो होता है वह पर्याप्ता ऐसे मनुष्य-तिर्यंच तथा पर्याप्ता बादर ऐसे पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पतिकाय में जाता है उसमें भी सनत्कुमारादि देव एकेन्द्रिय में नहीं जाते और आनतादिदेव मनुष्य में ही जाते हैं ॥१६४-१६५॥

दो कप्प कायसेवी, दो दो दो फरिसरूवसद्देहिं ।
चउरो मणेणुवरिमा, अप्पवियारा अणंतसुहा ॥१६६॥

अर्थ - प्रारम्भ के दो देवलोक मनुष्यवत् शरीर धारण करके मैथुन सेवन करनेवाले, उनके बाद के दो-दो कल्पगत देव क्रमशः स्पर्श-रूप-शब्द से, उनके बाद चार कल्पगत देव मन से विषयसुख का अनुभव करते हैं और उनके बाद के उपरि सर्व कल्पदेव अप्रविचारी (अविषयी) और अनंतसुखी हैं ॥१६६॥

जं च कामसुहं लोए, जं च दिव्वं महासुहं ।
वीयरायसुहस्सेअ-णंतभागंपि नग्घई ॥१६७॥

अर्थ - लोक में जो कामसुख हैं और जो दैविक महासुख हैं, वे वीतराग के सुख के अनंतवें भाग के योग्य भी नहीं हैं ॥१६७॥

उववाओ देवीणं, कप्पदुगं जा परो सहस्सारा ।
गमणाऽऽगमणं नत्थि, अच्चुअपरओ सुराणंपि ॥१६८॥

अर्थ - देवियों की उत्पत्ति दो देवलोक तक है । सहस्रार के बाद देवियों का गमनागमन नहीं है । अच्युत देवलोक के बाद देवों का भी गमनागमन नहीं है ॥१६८॥

तिपलिअ तिसार तेरस,-सारा कप्पदुग-तइअ-लंत अहो ।
किब्बिसिअ न हुंतुवरिं, अच्चुअपरओऽभिओगाई ॥१६९॥

अर्थ - प्रारम्भ के दो देवलोक के अधः स्थान पर तीन पल्योपम की, तीसरे सनत्कुमार कल्प के नीचे तीन सागरोपम की तथा छठे लांतक कल्प के अधो भाग पर तेरह सागरोपम की आयुष्यवाले किल्बिषिया देव बसते हैं । लांतक से ऊपर के कल्पों में किल्बषिया देव नहीं हैं और अच्युत से ऊपर तो आभियोगिकादिक देव भी नहीं है ॥१६९॥

अपरिग्गहदेवीणं, विमाण लक्खा छ हुंति सोहम्मे ।
पलियाई समयाहिय, ठिइ जासिं जाव दस पलिआ ॥१७०॥
ताओ सणंकुमारा णेवं वड्ढंति पलियदसगेहिं ।
जा बंभ-सुक्क-आणय-आरण देवाण पन्नासा ॥१७१॥
ईसाणे चउलक्खा, साहिय पलियाइ समयअहिय ठिई ।
जा पनर पलिय जासिं, ताओ माहिंददेवाणं ॥१७२॥
एएण कमेण भवे, समयाहियपलियदसगवुड्ढीए ।
लंत-सहसार-पाणय-अच्चुयदेवाण पणपन्ना ॥१७३॥

अर्थ - सौधर्मदेवलोक में अपरिगृहीता देवियों के छः

लाख विमान हैं। साथ ही एक पल्योपम की आदि से समय अधिक करते हुए यावत् जिनकी स्थिति दस पल्योपम (वहाँ तक की भिन्न-भिन्न आयुष्यवाली) होती हैं, वे देवियाँ सनत्कुमार देवलोक में उपभोगार्थ के लिए जाती हैं। लेकिन आगे के कल्पों के लिए वे नहीं जाती हैं। साथ ही उसी प्रकार दस पल्योपम से आरम्भ करके समयाधिक की वृद्धि से २० पल्योपम आयुष्य तक की देवियाँ ब्रह्म देवलोक भोग्य जानें। उसी प्रकार यावत् ३० पल्योपमायुषी देवियाँ महा शुक्र देवलोक भोग्य, ४० पल्योपमायुषी देवियाँ आनत देवों के भोग्य और ५० पल्योपमायुषी देवियाँ आरण देव भोग्य जानें।

अब ईशानकल्प में अपरिगृहीता देवियों के चार लाख विमान हैं। इनमें जिन देवियों की साधिक पल्योपमायुष्य की स्थिति है वे तो ईशानदेव के भोगरूप हैं और इनके आगे समयादिक की वृद्धि से यावत् १५ पल्योपमायुषी देवियाँ माहेन्द्रदेव भोग्य, २५ पल्योपमवाली लांतक के, ३५ पल्योपमवाली सहस्रार के, ४५ पल्योपमवाली प्राणत के तथा ५५ पल्योपमायुषी अच्युतकल्प के देवों के भोग्य होती हैं ॥१७०-१७३॥

किण्हा-नीला-काऊ-तेउ-पम्हा य सुक्कलेसा य ।
भवणवण पढम चउले-स जोइस कप्पदुगे तेऊ ॥१७४॥
कप्पतिय पम्हलेसा, लंताइसु सुक्कलेस हुंति सुरा ॥
कणगाभपउमकेसर-वण्णा दुसु तिसु उवरि धवला ॥१७५॥

अर्थ - कृष्ण, नील, कापोत, तेजो पद्म और शुक्ल ये छः लेश्याएँ हैं। भवनपति और व्यन्तर की पहली चार लेश्याएँ होती हैं। ज्योतिष और दो देवलोक में तेजोलेश्या होती है। तीन देवलोक में पद्मलेश्या होती है, लांतक वगैरह में शुक्ल लेश्यावाले देव होते हैं। दो देवलोक में स्वर्ण वर्णवाले, तीन देवलोक में कमल की केशर के वर्णवाले और ऊपर श्वेत वर्णवाले देव होते हैं ॥१७४-१७५॥

दसवाससहस्साइं, जहन्नमाउं धरंति जे देवा ।
तेसिं चउत्थाहारो, सत्तहिं थोवेहिं ऊसासो ॥१७६॥

अर्थ - जो देव जघन्य से १०,००० वर्ष का आयुष्य धारण करता है, उसका आहार एकान्तर और उच्छ्वास सात स्तोक में होता है ॥१७६॥

आहिवाहिविमुक्कस्स, नीसासूसास एगगो ।
पाणु सत्त इमो थोवो, सोवि सत्तगुणो लवो ॥१७७॥
लवसत्तहत्तरीए, होइ मुहूत्तो इमम्मि ऊसासा ।
सगतीससयतिहुत्तर, तीसगुणा ते अहोरत्ते ॥१७८॥
लक्खं तेरससहस्सा, नउअसयं अयरसंखया देवे ।
पक्खेहिं ऊसासो, वाससहस्सेहिं आहारो ॥१७९॥

अर्थ - आधि-व्याधि से रहित मनुष्य का एक श्वासोच्छ्वास प्राण है, ७ प्राण १ स्तोक है, सात गुना स्तोक १ लव है, ७७ लव का एक मुहूर्त्त है, १ मुहूर्त्त में ३७७३ श्वासोच्छ्वास हैं, उसे तीस से गुणा करने पर १ अहोरात्र में

१,१३,१९० श्वासोश्वास हैं। सागरोपम की संख्या के द्वारा देव में एक पक्ष में श्वासोच्छ्वास और १,००० वर्ष में आहार होता है ॥१७७-१७९॥

दसवाससहस्सुवरिं, समयाई जाव सागरं ऊणं ।
दिवसमुहुत्तपुहुत्ता, आहारुसास सेसाणं ॥१८०॥

अर्थ - दस हजार वर्ष से अधिक तथा सागरोपम से कुछ न्यून आयुष्यवाले (अर्थात् लाखों, करोडों, अरबों, संख्या असंख्य यावत् पल्योपमवाले) देवों के लिए दिवस पृथक्त्वपर आहार तथा मुहूर्त्त पृथक्त्वपर श्वासोश्वास ग्रहण होता है ॥१८०॥

सरिरेण ओयाहारो, तयाइ-फासेण लोम आहारो ।
पक्खेवाहारो पुण, कावलिओ होइ नायव्वो ॥१८१॥

अर्थ - ओजाहार का ग्रहण शरीर द्वारा, लोमाहार का ग्रहण त्वचा के स्पर्श द्वारा तथा प्रक्षेपाहार का ग्रहण कवल रूप में लिया जाता है ॥१८१॥

ओयाहारा सव्वे, अपज्जत्त पज्जत्त लोमआहारो ।
सुरनिरयइगिंदि विणा, सेसा भवत्था सपक्खेवा ॥१८२॥

अर्थ - अपर्याप्तावस्था में सर्व जीव ओजाहारी और पर्याप्तावस्था में सभी लोमाहारी होते हैं। देवता, नारकी और एकेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष सभी जीव प्रक्षेपाहारी होते हैं॥१८२॥

सचित्ताचित्तोभय-रूवो आहार सव्वतिरियाणं ।
सव्वनराणं च तहा, सुरनेरइयाण अच्चित्तो ॥१८३॥

अर्थ - सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त (मिश्र) ये आहार के तीन प्रकार हैं। इनमें सभी तिर्यंचों तथा सभी मनुष्यों के लिए तीनों प्रकार का आहार होता है, जबकि देवों तथा नारकी के लिए अचित्त आहार होता है ॥१८३॥

आभोगाऽणाभोगा, सव्वेसिं होई लोमआहारो ।
निरयाणं अमणुन्नो, परिणमइ सुराण समणुण्णो ॥१८४॥

अर्थ - सर्व जीवों में लोमाहार आभोग अर्थात् जान-बूझकर और अनाभोग अर्थात् अनजान में इन दोनों प्रकार से परिणमित होता है। इनमें यह आहार नारकी में अमनोज्ञ-अप्रियरुप तथा देवो में मनोज्ञ-प्रियरूप में परिणत होता है ॥१८४॥

तह विगलनारयाणं, अंतमुहूत्ता स होई उक्कोसो ।
पंचिंदितिरिनिराणं, साहाविय छट्ठ अट्ठमओ ॥१८५॥
विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समूहया अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा ॥१८६॥

अर्थ - विकलेन्द्रिय और नारको को आहार उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त के बाद होता ही हैं, मनुष्य और तिर्यंचो का स्वाभाविक आहार उत्कृष्ट से छट्ठ और अट्ठम के बाद होता हैं। विग्रहगति को प्राप्त, केवली, समुद्घातवाले, अयोगी जीव और सिद्ध अणाहारी हैं। शेष जीव आहारक हैं ॥१८५-१८६॥

केसट्ठिमंसनहरोम-रुहिरवसचम्ममुत्तपुरिसेहिं ।
रहिआ निम्मलदेहा, सुगंधिनीस्सास गयलेवा ॥१८७॥
अंतमुहुत्तेणं चिय, पज्जत्तातरुणपुरिससंकासा ।
सव्वंगभूसणधरा, अजरा निरुआ समा देवा ॥१८८॥

अणिमिसनयणा, मणक-ज्जसाहणा पुप्फदामअमिलाणा ।
चउरंगुलेण भूमिं, न छिव्वंति सुरा जिणा बिंति ॥१८९॥

अर्थ - देव केश, हड्डी, मांस, नख, रोम, रक्त, चर्म, मूत्र और विष्टा से रहित निर्मल शरीरवाले, सुगन्धित श्वासोच्छ्वासवाले, लेप (पसीने) से रहित, अन्तर्मुहूर्त्त में पर्याप्ता होनेवाले, युवा पुरुष की भांति, सभी अंगों पर अलंकार को धारण करनेवाले, जरा (वृद्धावस्था) से रहित, रोगरहित और समचतुस्रसंस्थानवाले होते हैं । अनिमेष नयनवाले, मन से कार्य सिद्ध करनेवाले, ताजे फूलों की मालावाले देव भूमि को चार ऊँगलियों से स्पर्श नहीं करते हैं, ऐसा जिनेश्वरदेव कहते हैं ॥१८७-१८९॥

पंचसु जिणकल्लाणे-सु, चेव महरिसितवाणुभावाओ ।
जम्मंतरनेहेण य, आगच्छंती सुरा इहइं ॥१९०॥

अर्थ - जिनेश्वर देवों के पाँचों कल्याणकों में, महर्षियों के तप के प्रभाव से आकर्षित होकर तथा जन्मान्तर के कारण शेष किसी स्नेहवश देव यहाँ आते हैं ॥१९०॥

संकंतदिव्वपेमा, विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा ।
अणहीणमणुअकज्जा, नरभवमसुहं न इंति सुरा ॥१९१॥
चत्तारि पंचजोयण, सयाइं गंधो य मणुअलोगस्स ।
उड्ढं वच्चइ जेणं, न उ देवा तेण आवन्ति ॥१९२॥

अर्थ - संक्रान्त दिव्य प्रेमवाले, विषय में आसक्त, समाप्त नहीं हुए हैं कर्त्तव्य जिनके ऐसे, मनुष्य के अनधीन

कार्यवाले देव अशुभ मनुष्यभव में नहीं आते हैं । जिसके कारण मनुष्यलोक की गंध ४०० या ५०० योजन ऊपर तक जाती है। इस कारण से देव यहाँ नहीं आते हैं ॥१९१-१९२॥

दो कप्पपढमं पुढविं, दो दो दो बीअतइयगचउत्थिं ।
चउ उवरिम ओहीए, पासंति अ पंचमं पुढविं ॥१९३॥
छट्ठिं छग्गेविज्जा, सत्तमिमियरे अणुत्तरसुरा उ ।
किंचूण लोगनालिं, असंखदीवुदहि तिरियं तु ॥१९४॥
बहुअयरगं उवरिमगा, उड्ढं सविमाणचूलियधयाई ।
उणद्धसागरे संख-जोयणा तप्परमसंखा ॥१९५॥
पणवीस जोयणलहु, नारय-भवण-वण-जोइकप्पाणं ।
गेविज्जणुत्तराण य, जहसंखं ओहिआगारा ॥१९६॥
तप्पागारे-पल्लग,-पडहग-झल्लरी-मुईंग-पुप्फ-जवे ।
तिरियमणुएसु ओही, नाणाविहसंठिओ भणिओ ॥१९७॥

अर्थ - पहले दो कल्प के देवता अपने अवधिज्ञान से प्रथम नरक पृथ्वी तक का क्षेत्र (अधो) देख सकते हैं, उसके बाद के दूसरे दो कल्प के देव दूसरे नरक तक, बाद के दो कल्प के देव तीसरे नरक तक, तदनन्तर दो कल्प के देव चौथे नरक तक और बाद के चार कल्प के देव पाँचवें नरक पृथ्वी तक के क्षेत्र को देख सकते हैं ॥१९३॥

तदनन्तर छः ग्रैवेयक के देव छठे नरक तक और उसके बाद के ऊपरी तीन ग्रैवेयक के देव सातवें नारक पृथ्वी तक, साथ ही अनुत्तर देव कुछ न्यून प्रमाण

लोकनालिका को देखते हैं ।

साथ ही सौधर्मादिक सभी देव तिर्च्छुं असंख्याता द्वीप-समुद्रों के क्षेत्र को देख सकते हैं ॥१९४॥

यहाँ फर्क इतना है कि उनके उसी क्षेत्र के ऊपर-ऊपर के कल्पवाले देव, तिर्च्छुं क्रमशः नीचे-नीचे के कल्पवाले देवों से अधिक विशुद्ध-विशुद्धतर अवधिज्ञान के प्रभाव से अधिक-अधिकतम और सर्वकल्पगत देव तो अपने-अपने विमान की चूलिका की ध्वजा तक ऊँचा देख सकते हैं । और इसमें भी आधे सागरोपम से न्यून आयुष्यवाले तिर्च्छुं संख्य योजन क्षेत्र को देख सकते हैं और उससे अधिकायुष्यवाले देव असंख्य योजन तक देख सकते हैं ॥१९५॥

भवनपति-व्यंतर जघन्य से देव तीर्च्छुं २५ योजन तक देख सकते हैं । नारकी, भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, बारह कल्प, ग्रैवेयक तथा अनुत्तर देव का यथासंख्य अवधिज्ञान क्षेत्र का आकार निम्नानुसार है ॥१९६॥

जहाज (जलयान), प्याला, पटह, झालर, मृदंग, पुष्पचंगेरी और यवनालक कन्या के कचुके सहित की चोली के आकार का होता है। तिर्यंचों तथा मनुष्यों का अवधिज्ञान विविध प्रकार के संस्थानवाला बताया गया है ॥१९७॥

उड्ढं भवणवणाणं, बहुगो वेमाणियाणऽहो ओही ।
नारय-जोइसतिरियं, नरतिरियाणं अणेगविहो ॥१९८॥

अर्थ - भवनपति व्यंतर का अवधिज्ञान ऊपर अधिक होता है, वैमानिकों का अवधिज्ञान नीचे अधिक होता है, नारकी-ज्योतिष का अवधिज्ञान तीर्च्छु अधिक होता है और मनुष्यों-तिर्यंचों का अवधिज्ञान अनेक प्रकार का है ॥१९८॥

इअ देवाणं भणियं, ठिइपमुहं नारयाण वुच्छामि ।
इग तिन्नि सत्त-दस-सत्तर, अयर बावीस-तित्तीसा ॥१९९॥

अर्थ - इस प्रकार देवों की स्थिति आदि कही गई । अब नारकियों की कहूँगा । सात नरक में उत्कृष्ट स्थिति १, ३, ७, १०, १७, २२ और ३३ सागरोपम है ॥१९९॥

सत्तसु पुढवीसु ठिई, जिट्ठोवरिमा य हिट्ठपुढवीए ।
होइ कमेण कणिट्ठा, दसवाससहस्स पढमाए ॥२००॥

अर्थ - ऊपर की पृथ्वी की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः नीचे की पृथ्वी की जघन्य स्थिति है । पहली पृथ्वी की जघन्य स्थिति १०,००० वर्ष है ॥२००॥

नवइसमसहसलक्खा, पुव्वाणं कोडि अयर दस भागो ।
एगेगभागवुड्ढी, जा अयरं तेरसे पयरे ॥२०१॥

अर्थ - ९०,००० वर्ष, ९० लाख वर्ष, १ करोड़ पूर्व, १/१० सागरोपम, १-१ भाग की वृद्धि यावत् १३वें प्रतर में १ सागरोपम - यह उत्कृष्ट स्थिति है ॥२०१॥

इय जिट्ठ जहन्ना पुण, दसवाससहस्सलक्खपयरदुगे ।
सेसेसु उवरिजिट्ठा, अहो कणिट्ठा उ पइपुढविं ॥२०२॥

अर्थ - जघन्य स्थिति दो प्रतर में १०,००० वर्ष और १

लाख वर्ष, शेष प्रतरों में प्रत्येक पृथ्वी में ऊपर के प्रतर की उत्कृष्ट स्थिति नीचे की प्रतर की जघन्य स्थिति है ॥२०२॥

उवरिखिइठिइविसेसो, सगपयरविहत्तइच्छसंगुणिओ ।
उवरिमखिइठिइसहिओ, इच्छअपयरम्मि उक्कोसा ॥२०३॥

अर्थ – ऊपर की पृथ्वी की स्थिति का विश्लेष करके (नीचे की इष्ट पृथ्वी की उत्कृष्ट स्थिति में से कम करके) जो शेष बचे उसे, इच्छित अपने प्रतर की संख्या से भाग देने से जो संख्या आती है उसको इष्ट प्रतर की संख्या से गुणा करने से जो संख्या आये उसे, उसके (जिस इष्ट पृथ्वी के प्रतरों की स्थिति निकालते हैं, उसके) ऊपर की पृथ्वी की जो उत्कृष्ट स्थिति है उसके साथ जोडने से इच्छित प्रतर पर उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है ॥२०३॥

बंधण गइ संठाणा, भेया वन्ना य गंध-रस-फासा ।
अगुरुलहु सद्द दसहा, असुहा वि य पुग्गला निरए ॥२०४॥

अर्थ – बंधन, गति, संस्थान, भेद, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु और शब्द – ये दस प्रकार के अशुभ पुद्गल (परिणाम) नरक में हैं ॥२०४॥

नरया दसविहवेयण, सीउसिण-खुहा पिवास कंडूहिं ।
परवस्सं जरं दाहं, भयं सोगं चेव वेयंति ॥२०५॥

अर्थ – नारकी १० प्रकार की वेदना भोगते हैं – ठंडी, गर्मी, भूख, प्यास, खुजली, पराधीनता, ज्वर, दाह, भय और शोक ॥२०५॥

सत्तसु खित्तजविअणा, अन्नोन्नकयावि पहरणेहिं विणा ।
पहरणकयाऽवि पंचसु, तिसु परमाहम्मिअकया वि ॥२०६॥

अर्थ – सातों पृथ्वी में क्षेत्रज और प्रहरण विना परस्परकृत वेदना होती है । पाँच पृथ्वी में प्रहरणकृत वेदना भी होती है । तीन पृथ्वी में परमाधामीकृत वेदना भी होती है ॥२०६॥

रयणप्पह सक्करपह, वालुअपह, पंकपह य धूमपहा ।
तमपहा तमतमपहा, कमेण पुढवीण गोत्ताइं ॥२०७॥

अर्थ – रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमस्तमः प्रभा – ये क्रमशः सात पृथ्वी के गोत्र हैं ॥२०७॥

घम्मा वंसा सेला, अंजण रिट्ठा मघा य माघवई ।
नामेहिं पुढवीओ, छत्ताइच्छत्तसंठाणा ॥२०८॥

अर्थ – घर्मा, वंशा, शैला, अंजना, रिष्टा, मघा और माघवती – इन नामों के द्वारा सात पृथ्वियों छत्रातिछत्र के आकार में स्थित हैं ॥२०८॥

असीइ बत्तीस अडवीस वीस अट्ठार सोल अडसहस्सा ।
लक्खुवरि पुढविपिंडो, घणुदहिघणवायतणुवाया ॥२०९॥
गयणं च पइट्ठाणं, वीससहस्साइं घणुदहिपिंडो ।
घणतणुवायागासा, असंखजोयणजुआ पिंडे ॥२१०॥

अर्थ – प्रथम पृथ्वी का पिंडप्रमाण एक लाख के ऊपर

अस्सी हजार योजन, दूसरी का एक लाख बत्तीस हजार, तीसरी का पिंडप्रमाण एक लाख अट्ठाईस हजार, चौथी का एक लाख बीस हजार, पाँचवीं का एक लाख अठारह हजार, छठी का एक लाख सोलह हजार तथा सातवीं का एक लाख आठ हजार योजन पिण्डप्रमाण जानें ॥२०९॥

प्रत्येक पृथ्वीपिण्ड घनोदधि-घनवात-तनवात और आकाश इन्हीं से चारों ओर से घिरा हुआ होता है । इनमें घनोदधिपिण्ड (मध्य में) बीस हजार योजन का और घनवात, तनवात तथा आकाश ये तीनों असंख्य योजन युक्त पिण्डवाले होते है ॥२१०॥

न फुसंति अलोगं चउदिसंपि पुढवी उ वलयसंगहिआ ।
रयणाए वलयाणं, छद्धपंचमजोअणं सड्ढं ॥२११॥
विक्खंभो घणउदही-घणतणुवायाण होइ जहसंखं ।
सतिभागगाउअं, गाउअं च तह गाउअतिभागो ॥२१२॥
पढममहीवलएसुं, खिविज्ज एअं कमेण बीआए ।
दुति चउ पंचच्छगुणं, तइआइसु तंपि खिव कमसो ॥२१३॥

अर्थ - वलयों से आवृत्त पृथ्वियाँ चारो दिशा में अलोक को स्पर्श नहीं करती । रत्नप्रभा के घनोदधि, घनवात, तनवात के वलय क्रमशः ६,४.१/२, १.१/२ योजन मोटी है । पहली पृथ्वी के वलयों में १.१/३ गाँव, १ गाँव, और १/३ गाँव संयोजित करने पर वे क्रमशः दूसरी पृथ्वी

के वलयों की चौड़ाई हैं । उसे २,३,४,५,६ गुणांक कर संयोजित करने पर क्रमशः तीसरी इत्यादि पृथ्वी में वलयों की मोटाई आती है ॥२११-२१३॥

मज्झे चिय पुढवि अहे, घणुदहिपमुहाण पिंडपरिमाणं ।
भणियं तओ कमेणं, हायइ जा वलय परिमाणं ॥२१४॥

अर्थ - पृथ्वी के नीचे मध्य भाग में ही घनोदधि आदि के पिंड का परिमाण कहा गया है, उसके बाद क्रमशः वलय के परिमाण तक घटता है ॥२१४॥

तीस पणवीस पनरस, दस तिन्नि पणूणएग लक्खाइं ।
पंच य नरया कमसो, चुलसी लक्खाइं सत्तसु वि ॥२१५॥

अर्थ - ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, ५ न्यून १ लाख और ५ नरकावास क्रमशः सात पृथ्वियों में है । सातों में ८४ लाख नरकावास हैं ॥२१५॥

तेरिक्कारस नव सग, पण तिन्निग पयर सव्विगुणवन्ना ।
सीमंताई अपइ-ट्ठाणंता इंदया मज्झे ॥२१६॥

अर्थ - सात पृथ्वी में क्रमशः १३, ११, ९, ७, ५, ३ और १ प्रतर है । कुल ४९ प्रतर हैं । उनके बीच सीमन्तक से लेकर अप्रतिष्ठान तक इन्द्रक नरकावास हैं ॥२१६॥

तेहिंतो दिसि विदिसिं, विणिग्गया अट्ठ निरयआवलिया ।
पढमे पयरे दिसि, इगु-णवन्न विदिसासु अडयाला ॥२१७॥

अर्थ - वहाँ से (इन्द्रक नरकवासाओं से) दिशाओं में

तथा विदिशाओं में आठ-आठ नरकपंक्तियाँ निकली हैं। उनमें प्रथम प्रतर पर दिशागत उनचास (४९) तथा विदिशागत अड़तालीस नरकावास हैं ॥२१७॥

बीयाइसु पयरेसुं, इगइग हीणा उ हुंति पंतीओ ।
जा सत्तममहीपयरे, दिसि इक्किक्को विदिसि नत्थि ॥२१८॥

अर्थ - दूसरे प्रतर से लेकर अन्य प्रतरों में, एक एक नरकावास से हीन-न्यून युक्त पंक्तियाँ होती हैं, जिसके कारण एक एक हीन (कम) करते जाने से अन्त में (यावत्) सातवीं पृथ्वी के प्रतर में सिर्फ दिशागत एक एक नरकावासा ही रहता है, जब कि विदिशा में एक भी रहता नहीं है ॥२१८॥

इट्ठपयरेगदिसि संख, अडगुणा चउविणा सइगसंखा ।
जह सीमंतयपयरे, एगुणनउया सयातिन्नि ॥२१९॥
अपइट्ठाणे पंच उ, पढमो मुहमंतिमो हवइ भूमी ।
मुहभूमिसमासद्धं, पयरगुणं होइ सव्वधणं ॥२२०॥

अर्थ - इष्ट प्रतर की एक दिशागत संख्या को आठ गुना करके उसमें से चार की संख्या कम करने के बाद अवशेष संख्या को एक (इन्द्रक) सहित करने पर [इष्टप्रतर के नरकावास की संख्या प्राप्त होती है।] जिस प्रकार सीमंतक नाम के प्रथम प्रतर पर ३८९ नरकावास की संख्या और अप्रतिष्ठान नामक अन्तिम प्रतर पर पाँच की संख्या प्राप्त होती है।

प्रथम प्रतरसंख्या को मुख और अंतिम प्रतरसंख्या को भूमि कहा जाता है। दोनों संख्याओं को कुल मिलाकर उसका अर्ध (आधा-आधा) भाग करें, और जो संख्या मिले उसका सर्व प्रतरसंख्या के साथ गुणन करने से सर्वसंख्या प्राप्त होती है ॥२१९, २२०॥

छन्नवइसय तिवन्ना, सत्तसु पुढवीसु आवलीनरया ।
सेस तिअसीइलक्खा, तिसय सियाला नवइसहसा ॥२२१॥

अर्थ - पूर्व कथित गाथा के करण की सहायता से सातों नरक की कुल मिलाकर ९६५३ की आवलिकागत नरकावास संख्या प्राप्त होती है। इसलिए ८४,००,००० (८४ लाख) संख्या में से ९६५३ की संख्या कम करने से शेष ८३,९०,३४७ की संख्या पुष्पावकीर्ण की प्राप्त होती है ॥२२१॥

तिसहस्सुच्चा सव्वे, संखमसंखिज्जवित्थडाऽऽयामा ।
पणयाल लक्ख सीमंतओ अ लक्खं अपइट्ठाणो ॥२२२॥

अर्थ - सातों नरक पृथ्वी में प्रवर्त्तित सारे नरकावास, [आवलिकागत और पुष्पावकीर्ण] तीन हजार (३०००) योजन की ऊँचाईवाले तथा चौड़ाई और लम्बाई में कोई संख्य योजन तो कोई असंख्य योजन ऐसे दोनों प्रकार के हैं। उदाहरण के तौर पर प्रथम नरकप्रतरवर्ती सीमन्तक नामक इन्द्रक नरकावास [ढ़ाई द्वीपप्रमाण]

प्रमाणांगुल से ४५ लाख योजन का वृत्ताकार में और सातवीं नारकी के मध्य में प्रवर्त्तमान अप्रतिष्ठान नरकावास भी प्रमाणांगुल से [जंबूद्वीप प्रमाण] एक लाख योजन का वृत्ताकार में आया हुआ है जिसके आसपास महारौरव, महाकाल, रौरव तथा काल - ये चारों असंख्य योजन के विस्तारवाले नरकावास आये हुए हैं ॥२२२॥

छसु हिट्ठोवरि जोयणसहसं बावन्न सड्ढ चरमाए ।
पुढवीए नरयरहियं, नरया सेसम्मि सव्वासु ॥२२३॥

अर्थ - प्रारंभिक रत्नप्रभादि छ पृथ्वियों में हरेक पृथ्वी के यथायोग्य पिंडप्रमाण में से ऊपर और नीचे के एक हजार योजन पृथ्वीपिंड में नरकावास, नारक या प्रतर कुछ भी होता नहीं है अर्थात् यह ऐसा ही रिक्त सघन पृथ्वीभाग है। लेकिन शेष १,७८,००० योजन के सर्व भागों में नारकोत्पत्ति योग्य नरकावास यथायोग्य स्थान पर (उन-उन प्रतरों में) आये हुए हैं [क्योंकि उसी पृथ्वी के बाहल्यानुसार प्रतर का अन्तर रहता है इसलिए अगली गाथाओं में जिस-जिस पृथ्वी में प्रतरों का जितना-जितना अन्तर बताया है, उतने-उतने अन्तर पर नरकावास स्थान भी समझ लेना चाहिए ।] जब अन्तिम पृथ्वी माघवती में ऊपर तथा नीचे दोनों स्थानों से साढ़े बावन हजार योजन का क्षेत्र छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि वहाँ सिर्फ शेष तीन हजार योजन में ही नरकावास आये हुए हैं क्योंकि वहाँ

एक ही प्रतर है । वह प्रतर ३००० योजन की ऊँचाई पर मिलता है, क्योंकि वहाँ नरकावासों की ऊँचाई भी उतनी ही होती है ॥२२३॥

बिसहस्सूणा पुढवी, तिसहस्सगुणिएहिं निअयपयरेहिं ।
ऊणा रुवूणणिअपयरभाइआ पत्थडंतरयं ॥२२४॥

अर्थ - अपने (इष्ट नरक के) प्रतर की संख्या से तीन हजार की संख्या को गुणा करने से जो संख्या मिलती है उसे दो हजार न्यून ऐसे उस-उस पृथ्वीपिंड में से कम करने पर जो संख्या शेष रहती है उसे एकरूप न्यून प्रतर की संख्या से (क्योंकि प्रतर की संख्या से आंतरा एक संख्या न्यून होता है) भाग देने से प्रतर का अंतर मिलता है ॥२२४॥

पउणट्ठधणु छ अंगुल, रयणाए देहमाणमुक्कोसं ।
सेसासु दुगुण दुगुणं, पणधणुसय जाव चरिमाए ॥२२५॥

अर्थ - रत्नप्रभा में उत्कृष्ट देहमान पौने आठ धनुष और छः अंगुल होता है और शेष पृथ्वी में [समुच्चय] जानने के लिए उसी प्रमाण को दो-गुना दो-गुना करने से यावत् अन्तिम पृथ्वी में पाँच सौ धनुष होते हैं ॥२२५॥

रयणाए पढमपयरे, हत्थतियं देहमाणमणुपयरं ।
छप्पण्णंगुल सड्ढा, वुड्ढी जा तेरसे पुण्णं ॥२२६॥

अर्थ - रत्नप्रभा के प्रथम प्रतर पर तीन हाथ का उत्कृष्ट देहमान होता है । इसके बाद प्रत्येक प्रतर पर क्रमशः साढे

छप्पन अंगुल की वृद्धि करें, जिससे तेरहवें प्रतर पर पूर्णमान [७॥ धनुष छः अंगुल का] आ सके ॥२२६॥

जं देहपमाणं उवरि-माए पुढवीए अंतिमे पयरे ।
तं चिय हिट्ठिम पुढवीए, पढमे पयरम्मि बोद्धव्वं ॥२२७॥
तं चेगूणगसगपयर-भइयं बीयाइपयरवुड्ढि भवे ।
तिकर तिअंगुल कर सत्त, अंगुला सड्ढिगुणवीसं ॥२२८॥
पण धणु अंगुल वीसं, पणरस धणु दुन्नि हत्थ सड्ढा ।
बासट्ठि धणुह सड्ढा, पणपुढवीपयरवुड्ढि इमा ॥२२९॥

अर्थ - ऊपर की पृथ्वी के अन्तिम प्रतर पर जो देह प्रमाण होता है । उसे नीचे की पृथ्वी के प्रथम प्रतर पर अवश्य जानें ॥२२७॥

इन शर्करादि छः पृथ्वियों के प्रथम प्रतर के लिए यह उपाय बताया गया है । अब शर्करादि छहों पृथ्वियों के अन्य प्रतरों के लिए ऐसा करें कि प्रत्येक पृथ्वी में प्राप्त प्रथम प्रतरवर्त्ती देहमान को अपनी अपनी पृथ्वी में प्राप्त प्रतर की संख्या में से एक की संख्या कम करके भाग दें, भाग देने के बाद जो संख्या आती है वह उसी पृथ्वी के द्वितीयादि प्रतरों में वृद्धिकारक बनती है । ऐसा करते हुए अनुक्रम से (शर्करा में वृद्धि अंक) तीन हाथ और तीन अंगुल, तीसरी के लिए ७ हाथ और १९॥ अंगुल, चौथी के लिए ५ धनुष, २० अंगुल, पाँचवीं नरक के लिए १५ धनुष, २॥ हाथ और छठी नरक में वृद्धिरूप अंक ६२॥ धनुष । इस प्रकार मध्य

की पाँचों नरक पृथ्वियों में भी इसी वृद्धि अंक के समान वृद्धि करें ॥२२८-२२९॥

इअ साहाविय देहो, उत्तरवेउव्विओ य तद्दुगुणो ।
दुविहोऽवि जहन्न कमा, अंगुलअस्संखं संखंसो ॥२३०॥

अर्थ - इस तरह स्वाभाविक-भवधारणीय शरीर का मान बताया गया है । अब प्रत्येक नरक में उत्तरवैक्रिय का शरीरमान जानने के लिए जिस जिस नरक में जो जो भवधारणीय मान बताया गया है, वहाँ वहाँ उसी मान को दो गुना-दो गुना करने से उसी पृथ्वी के नारकों का उत्तरवैक्रिय देहमान आता है । और दोनों शरीरों का जघन्यमान में अनुक्रम में अंगुल के असंख्य तथा संख्य भाग का होता है । यह जघन्यमान नारक की उत्पत्ति के समय का ही समझें ॥२३०॥

सत्तसु चउवीस मुहू, सग पन्नर दिणेगदुचउछम्मासा ।
उववाय-चवणविरहो, ओहे बारस मुहुत्त गुरू ॥२३१॥
लहुओ दुहाऽवि समओ, संखा पुण सुरसमा मुणेअव्वा ।
संखाउपजत्तपणिंदि, तिरिनरा जंति नरएसु ॥२३२॥

अर्थ - सात पृथ्वियों में (उत्कृष्ट) उपपात-च्यवन विरहकाल क्रमशः २४ मुहूर्त, ७ दिन, १५ दिन, १ मास, २ मास, ४ मास, ६ मास है । सामान्य से नर्क में उत्कृष्ट उपपातविरहकाल १२ मुहूर्त है । सामान्य से और विशेष से जघन्य उपपात-च्यवन विरहकाल १ समय है । १ समय में उपपात-च्यवन संख्या देवों के समान जाने । संख्याता वर्ष

की आयु वाले पर्याप्ता पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य नर्क में जाते हैं ॥२३१-२३२॥

मिच्छद्दिट्ठि महारंभ-परिग्गहो तिव्वकोह निस्सीलो ।
नरयाउअं निबंधइ, पावरुई [मई]रुद्दपरिणामो ॥२३३॥

अर्थ - मिथ्यात्वी, महारंभी, परिग्रही, तीव्र क्रोधवाला, शीलरहित, रौद्र परिणाम वाला जीव नरकायुष्य को बांधता है ॥२३३॥

असन्नि सरिसिव-पक्खी-सीह-उरगित्थि जंति जा छट्ठीं ।
कमसो उक्कोसेणं, सत्तम पुढवीं मणुअ-मच्छा ॥२३४॥

अर्थ - असंज्ञी (मन रहित) संमूर्च्छिम (गर्भधारण किये बिना उत्पन्न होते) पंचेन्द्रिय तिर्यंच नरक के योग्य अध्यवसाय को प्राप्त करके नरक में जाए तो अवश्य पहले ही नरक में जाए, उससे आगे आनेवाले नरक में जाते ही नहीं हैं । भुजपरिसर्प, पक्षी, सिंह, सर्प, स्त्री क्रमशः उत्कृष्ट से दूसरी यावत् छट्ठी नरक तक जाते है । सातवी नरक में मनुष्य और मत्स्य जाते है ॥२३४॥

वाला दाढी पक्खी, जलयर नरयाऽऽगया उ अइकूरा ।
जंति पुणो नरएसुं, बाहुल्लेणं न उण नियमो ॥२३५॥

अर्थ - क्रोध से भरे, अनेक ही हानि करनेवाले व्याल अर्थात् सर्प-अजगर आदि जीव, दाढवाले के व्याघ्र-सिंहादिक हिंसक जीव, गीध-चील आदि पक्षी मत्स्यादि

जलचर जीव, - नरकगति में से आए होने पर भी, पुनः हिंसक प्रवृत्ति से अति क्रूर अध्यवसाय उत्पन्न होने के कारण नरकायुष्यका बन्ध करके नरक में यथायोग्यता से उत्पन्न होते हैं, परन्तु इसका कोई निश्चित नियम नहीं है । मगर प्रायः पुनः नरक में जाते हैं । साथ ही कोई जीव तथाविधजातिस्मरणादिक के निमित्त को पाकर सम्यक्त्व का लाभ प्राप्त करके सद्गति को भी पाता है ॥२३५॥

दो पढमपुढवीगमणं, छेवट्ठे कीलिआइ संघयणे ।
इक्किक्क पुढविवुड्ढी, आइतिलेसाउ नरएसु ॥२३६॥

अर्थ - छेवट्ट संघयणवाला पहली दो पृथ्वी तक गमन करता है, बाद के कीलिकादि संघयण में एक एक पृथ्वी की वृद्धि करें। नरक में आदि तीन लेश्याएँ होती हैं ॥२३६॥

दुसु काऊ तइयाए, काऊ नीला य नील पंकाए ।
धूमाए नीलकिण्हा, दुसु किण्हा हुंति लेसा उ ॥२३७॥

अर्थ - पहले दो नरक में एक कापोतलेश्या होती है परन्तु पहले में जितनी मलिन रूप में होती है, उससे भी अधिक मलिन दूसरी शर्करप्रभा के जीवों में वर्तित होती है, तीसरी वालुकाप्रभा में कापोत और नील ये दो लेश्याएँ होती हैं । [इनमें जिनका साधिक तीन सागरोपम आयुष्य है उन्हें कापोत और उससे अधिकवालों को नील होती है] चौथी पंकप्रभा पृथ्वी में एक नीललेश्या ही होती है, पाँचवीं

धूमप्रभा में नील और कृष्ण ये दो लेश्याएँ होती हैं। [परन्तु उस नरक में जिन का साधिक दस सागरोपम का आयुष्य हो उन्हें नील और उनसे अधिकायुषी जीवों के कृष्ण लेश्या होती है।] और अन्तिम तमः और तमस्तमःप्रभा इन दोनों नरकों में एक कृष्णलेश्या ही होती है। परन्तु पाँचवें से छठे की कृष्णलेश्या अति मलिन और उससे भी सातवें में मलिन होती है ॥२३७॥

सुरनारयाण ताओ, दव्वलेसा अवट्ठिआ भणिया ।
भावपरावत्तीए, पुण एसिं हुंति छल्लेसा ॥२३८॥

अर्थ – सुर और नारकों की द्रव्यलेश्या अवस्थित कही है, साथ ही भावना परावर्तन से उनको छः लेश्याएँ कही हैं ॥२३८॥

निरउव्वट्टा गब्भे,
पज्जत्तसंखाउ लद्धि एएसिं ।
चक्की हरिजुअल अरिहा,
जिण जइ दिस सम्म पुहविकमा ॥२३९॥

अर्थ – नरक गति में से निकले जीव-अनन्तर भव में पर्याप्ता-संख्याता वर्षायुषी-गर्भज (तिर्यंच मनुष्य) रूप में ही उत्पन्न होते पृथ्वी के क्रम से उन्हें चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, अरिहंत, सामान्य केवली, साधु, देशविरति और सम्यक्त्व है ॥२३९॥

रयणाए ओही गाउअ, चत्तारद्धुट्ठ गुरुलहु कमेणं ।
पइ पुढवी गाउअद्धं, हायइ जा सत्तमि इगद्धं ॥२४०॥

अर्थ – रत्नप्रभा में [उत्कृष्ट से] अवधिज्ञान का क्षेत्र चार कोस का और [जघन्य से] साढ़े तीन कोस का होता है, तत्पश्चात् प्रत्येक पृथ्वी के दोनों मानों में आए हुए कोस की हीन करते जाइए, यावत् सातवें में उत्कृष्ट से एक कोस और जघन्य से आधे कोस का रहे ॥२४०॥

गब्भनरतिपलिआऊ, तिगाउ उक्कोस ते जहन्नेणं ।
मुच्छिम दुहावि अंतमुहु, अंगुलाऽसंखभागतणू ॥२४१॥

अर्थ – गर्भज मनुष्य की उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति तीन पल्योपम की और उनकी देह विषयक अवगाहना उत्कृष्ट से तीन कोस की होती है। उनका जघन्य से तथा संमूर्च्छिम मनुष्यों का जघन्य तथा उत्कृष्ट से भी आयुष्य अंतर्मुहूर्त का और जघन्य से गर्भज मनुष्य की अवगाहना तथा संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकार की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की है ॥२४१॥

बारस मुहुत्त गब्भे, इयरे चउवीस विरह उक्कोसो ।
जम्ममरणेसु समओ, जहण्णसंखा सुरसमाणा ॥२४२॥

अर्थ – अब तीसरा उपपात-च्यवनविरह अर्थात् गर्भज-मनुष्य के उपपातच्यवन (जन्ममरणाश्रयी) विरहकाल उत्कृष्ट से बारह मुहूर्त्त का पड़ता है। अर्थात् एक जीव के

उपपात (जन्म) या च्यवन (मरण) के बाद उक्त अंतर पर दूसरा उत्पन्न हो-जन्म हो अथवा च्यवन हो मरण हो। इतर-संमूर्च्छिम मनुष्य को उत्कृष्ट से चौबीस मुहूर्त्त का उपपात तथा च्यवनविरहकाल पड़ता है १ समय में उपपात-च्यवन संख्या देवों के समान है ॥२४२॥

सत्तममहिनेरइए, तेऊ-वाऊ असंखनरतिरिए ।
मुत्तूण सेसजीवा-उप्पज्जंती नरभवंमि ॥२४३॥

अर्थ - सातवें पृथ्वी के नारक, तेऊ (अग्नि)काय के, वायु (पवन) काय के जीव, असंख्य वर्षायुषी (युगलिक) मनुष्य-तिर्यंच अनन्तर भव में मनुष्य न होने से उनके सिवाय शेष सर्व दंडक के जीव [उन छः नारकों के जीव, देव, तिर्यंच]मनुष्य भव में उत्पन्न होते हैं ॥२४३॥

सुरनेरइएहिं चिय, हवंति हरि-अरिह-चक्कि-बलदेवा ।
चउविह सुर चक्किबला, वेमाणिअ हुंति हरिअरिहा ॥२४४॥

अर्थ - वासुदेव, अरिहंत, चक्रवर्त्ती, बलदेव, मनुष्य निश्चयपूर्वक देव-नरकगति में से ही आए हुए होते हैं। उनमें चक्रवर्त्ती तथा बलदेव हैं वे चारों प्रकार के देवनिकायों में से आए हुए और वासुदेव तथा अरिहंत वैमानिकनिकाय में से ही आए हुए होते हैं ॥२४४॥

हरिणो मणुस्सरयणाइं, हुंति नाणुत्तरेहिं देवेहिं ।
जहसंभवमुववाओ, हयगयएगिंदिरयणाणं ॥२४५॥

अर्थ - वासुदेव रूप में और चक्रवर्त्ती के मनुष्य-रत्नरूप में अनुत्तर देव (च्यवन पाकर) अवतरित नहीं होते हैं और शेष हाथी, अश्व और एकेन्द्रिय सात रत्नों का उपपात यथासंभव जानें ॥२४५॥

वामपमाणं चक्कं, छत्तं दंडं दुहत्थयं चम्मं ।
बत्तीसंगुल खग्गो सुवण्णकागिणि चउरंगुलिया ॥२४६॥
चउरंगुलो दुअंगुल, पिहुलो य मणी पुरोहि-गय-तुरया ।
सेणावइ गाहावइ, वड्ढइत्थी चक्कि रयणाइं ॥२४७॥

अर्थ - चक्र-छत्र-दंड व्याम (धनुष्य) प्रमाण है। चर्मरत्न २ हाथ का है। खड्ग रत्न ३२ अंगुलप्रमाण है। सुवर्ण का काकिणी रत्न ४ अंगुल का है, मणिरत्न ४ अंगुल लंबा, २ अंगुल चौडा है, पुरोहित, हाथी, घोडा, सेनापति, गाथापती, वर्ध की (सुथार) और स्त्री ॥२४६-२४७॥

चक्कं धणुहं खग्गो, मणी गया तह य होइ वणमाला ।
संखो सत्त इमाइं, रयणाइं वासुदेवस्स ॥२४८॥

अर्थ - १. सुदर्शन चक्र, २. नंदक नाम का खड्ग तथा ३. खड्ग इन तीनों रत्नों का वर्णन पहले २६७ वीं गाथा में कहा गया है उसके अनुसार समझ लेना। मात्र चक्र को सुदर्शन नाम से पहचाना जाता है उसके अतिरिक्त मणि, गदा, वनमाला, शंख यह ७ वासुदेव के रत्न है ॥२४८॥

संखनरा चउसु गइसु, जंति पंचसु वि पढमसंघयणे ।
इग दु ति जा अट्ठसयं, इग समए जंति ते सिद्धिं ॥२४९॥

अर्थ – संख्यात वर्ष के आयुष्यवाले मनुष्य मर कर चारों गति में जाते हैं, परन्तु उनमें जो प्रथम संघयणवाले हैं वे पाँचों गति में जाते हैं । वे एक ही समय पर एक, दो, तीन यावत् एकसौ आठ तक सिद्धि पद को पाते हैं ॥२४९॥

वीसित्थी दस नपुंसग, पुरिसट्ठसयं तु एगसमएणं ।
सिज्झइ गिहि अन्न सलिंग, चउ दस अट्ठाहिअसयं च ॥२५०॥

अर्थ – स्त्रियाँ उत्कृष्ट से एक समय में बीस मोक्ष में जाएँ, नपुंसक उत्कृष्ट दस और पुरुष उत्कृष्ट से एक ही समय में एकसौ आठ मोक्ष में जाते हैं। लिंग में गृहस्थ लिंग में एक समय में चार, अन्य लिंग में (अर्थात् अन्य धर्म के तापसादिक लिंग में) दस और स्वलिंग में (स्व = अपने साधु लिंग में) उत्कृष्ट एक समय में एक-सौ और आठ मोक्ष में जाते हैं ॥२५०॥

गुरु लहु मज्झिम दो चउ, अट्ठसयं उड्ढहोतिरिअलोए ।
चउबावीसऽट्ठसयं, दु समुद्दे तिन्नि सेस जले ॥२५१॥

अर्थ – उत्कृष्ट अवगाहनावाले जीव, उस उस काल में पाँच सौ धनुष की ऊँची कायावाले जीव, एक समय में युगपत् दो ही संख्या में मोक्ष में जाते हैं, परन्तु उससे अधिक नहीं जाते। साथ ही जघन्य से दो हाथ की अवगाहना तक के जीव ही मुक्ति के योग्य हैं। दो हाथ से न्यून देहवाले तद्भव में मुक्ति योग्य नहीं होते, अतः उस जघन्य अवगाहनावाले जीवो एक समय में अधिकाधिक चार संख्या तक सिद्ध हो सकते है, जब

कि जघन्य दो हाथ से आगे तथा ५०० धनुष के अन्दर (अर्थात् जघन्य उत्कृष्ट के बीच) की मध्यम अवगाहनावाले उत्कृष्ट से एक ही समय में १०८ सिद्ध हो सकते हैं उर्ध्वलोक-अधोलोक-तिर्च्छालोक में क्रमशः ४-२२-१०८, समुद्र में २ और शेष जल में ३ सिद्ध होते है ॥२५१॥

नरयतिरियागया दस, नरदेवगईओ वीस अट्ठसयं ।
दस रयणासक्करवालुयाउ, चउ पंकभूदगओ ॥२५२॥
छच्च वणस्सइ दस तिरि, तिरित्थि दस मणुअवीसनारीओ ।
असुराइवंतरा दस, पण तद्देवीओ पत्तेअं ॥२५३॥

अर्थ – नर्क तिर्यंच में से आये हुए १०, मनुष्य-देव में से आये हुए २० और १०८, रत्नप्रभा-शर्कराप्रभा-वालुकाप्रभा में से आये हुए १०, पंकप्रभा-पृथ्वीकाय-अप्काय में से आये हुए ४, वनस्पति में से आये हुए ६, तिर्यंच पुरुष और स्त्री में से आये हुए १०, मनुष्यपुरुष में से आये हुए १०, मनुष्यस्त्री में से आये हुए २०, असुरकुमार, व्यन्तर प्रत्येक में से आये हुए १०, उनकी देवियों में से प्रत्येक में से आये हुए ५ एक समय में सिद्ध होते हैं । ॥२५२-२५३॥

जोइ दस देवी वीसं, वेमाणि अट्ठसय वीस देवीओ ।
तह पुंवेएहिंतो, पुरिसा होऊण अट्ठसयं ॥२५४॥
सेसट्ठभंगएसुं, दस दस सिज्झंति एगसमयम्मि ।
विरहो छम्मास गुरुओ, लहु समओ चवणमिह नत्थि ॥२५५॥

अर्थ – ज्योतिष देव में से आये हुए १०, ज्योतिष देवी में से आये हुए २०, वैमानिक देव में से आये हुए १०८, वैमानिक देवी में से आये हुए २०, तथा पुरुषवेद में से पुरुष होकर १०८, शेष ८ भांगों में से १०-१० एक समय में सिद्ध होते हैं। उत्कृष्ट उपपातविरहकाल छ:मास का है, जघन्य उपपातविरहकाल १ समय हैं। यहाँ च्यवन नहीं है ॥२५४-२५५॥

अड सग छ पंच चउ तिन्नि, दुन्नि इक्को य सिज्झमाणेसु ।
बत्तीसाइसु समया, निरंतरं अंतरं उवरिं ॥२५६॥
बत्तीसा अडयाला, सट्ठि बावत्तरी य अवहीओ ।
चुलसीई छन्नवई, दुरहिअमट्ठुत्तरसयं च ॥२५७॥

अर्थ – एक समय में ही एक, दो, तीन से लेकर बत्तीस की संख्या तक के जीव निरंतर सिद्ध हों अर्थात् बिना अंतर के सतत मोक्ष में जायँ तो आठ समय तक ही जायँ। बाद में नौवें समय में कोई भी जीव मोक्ष को प्राप्त ही नहीं करता, इस एक समय का अन्तर अवश्य पड़ता ही है। तत्पश्चात् दसवें समय से भले ही पुन: बत्तीस-बत्तीस सिद्ध होते जायँ परन्तु वह प्रक्रिया आठ आठ समय तक ही चालू रहती है। फिर जघन्य से एकसमय का अन्तर अवश्य पड़ता ही है ॥२५६-२५७॥

पणयाललक्खजोयण-विक्खंभा सिद्धसिल फलिहविमला ।
तदुवरिग जोअणंते, लोगंतो तत्थ सिद्धट्ठिई ॥२५८॥

अर्थ – वैमानिक निकाय के अन्तिम अनुत्तर के मध्यवर्त्ती सर्वार्थसिद्ध नाम के महाविमान से ऊपर बारह योजन जाने पर वहाँ ही ४५ लाख योजन के विष्कम्भवाली, (वृत्त होने से आयाम भी उतना ही) स्फटिक समान निर्मल, ईषत्प्रागभारा नाम की **सिद्धशिला आई** हैं। इस शिला से ऊपर एक योजन के अंत में लोक का अन्त आता है, वहाँ तक सिद्ध के जीवों की स्थिति-अवगाहना है ॥२५८॥

बावीस-सग-ति-दसवाससहस-
ऽगणि तिदिण बेइंदिआईसु ।
बारस वासुणपण दिण,
छ मास तिपलिअट्ठिई जिट्ठा ॥२५९॥

अर्थ – पृथ्वीकाय जीवों की उत्कृष्ट आयुष्य-स्थिति २२ हजार वर्ष की, अप्काय की ७ हजार वर्ष, वाउकाय की ३ हजार वर्ष, वनस्पतिकाय की १० हजार वर्ष की, अग्निकाय की ३ अहोरात्र, दोइन्द्रिय की १२ वर्ष, त्रिइन्द्रिय की ४९ दिवस, चउरिन्द्रिय जीवों की ६ मास और तिर्यंच पंचेन्द्रियों की ३ पल्योपम की उत्कृष्ट स्थितियाँ जानें ॥२५९॥

सण्हा य सुद्ध-वालुअ, मणोसिल सक्कराय खरपुढवी ।
इग-बार चउद-सोलस-ऽठारस-बावीससमसहसा ॥२६०॥

अर्थ – मृदु-कोमल पृथ्वी की उत्कृष्ट भवस्थिति एक हजार वर्ष की है। मिट्टी की बारह हजार वर्ष की, वालुका-

उस नदी प्रमुख रेत की चौदह हजार वर्ष की, मन:शिला (पारा) के सोलह हजार वर्ष की, शर्करा की अठारह हजार वर्ष की, तथा खर अर्थात् शिला पाषाणरूप कठिन पृथ्वी की २२ हजार वर्ष की होती है ॥२६०॥

गब्भभुअ जलयरोभय, गब्भोरग पुव्वकोडि उक्कोसा ।
गब्भचउप्पयपक्खिसु, तिपलिअ पलियाअसंखंसो ॥२६१॥

अर्थ - गर्भज भुजपरिसर्प (भुजा से चलनेवाले) नेवले, चूहे, गिलहरी, छिपकली आदि की तथा गर्भज और संमूर्च्छिम जलचर मत्स्य, मगर-व्हेल, कछुऐ तथा दूसरे अन्य जीवों की, गर्भज उरपरिसर्प (पेट से चलनेवाले) अजगर, गोह, सर्पादिक की करोडपूर्व की उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति है। तथा गर्भज चतुष्पद गाय, सिंह आदि की उत्कृष्ट ३ पल्योपम की, गर्भज-खेचर मोर, हंस, उल्लू, कौए, चिडियाँ आदि पक्षियों की पल्योपम के असंख्यात वें भाग की होती है ॥२६१॥

पुव्वस उ परिमाणं, सयरि खलु वासकोडिलक्खाओ ।
छप्पन्नं च सहस्सा, बोद्धव्वा वासकोडीणं ॥२६२॥

अर्थ - पूर्वकी वर्ष संख्या सत्तर हजार छप्पन अबज करोड़ सालकी [७०५६,००,००,०००,०००] जानें ॥२६२॥

सम्मुच्छपणिंदिअथलखयरूरगभुअग जिट्ठठिइ कमसो ।
वाससहस्सा चुलसी, बिसत्तरि तिपण्ण बायाला ॥२६३॥

अर्थ - तिर्यंच पंचेन्द्रिय में संमूर्च्छिम स्थलचर गाय-

भैंस आदि चतुष्पद जीवों की अनुक्रम से उत्कृष्ट स्थिति ८४ हजार वर्ष की, संमूर्च्छिम खेचर-हंस-मोर-चिड़ियाँ आदि पक्षियों की ७२ हजार वर्ष की, संमूर्च्छिम (स्थलचर) उरपरिसर्प सर्पादि की ५३ हजार वर्ष की तथा (स्थलचर) संमूर्च्छिम भुजपरिसर्प की ४२ हजार वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति होती है। सब की जघन्यस्थिति आगे कहेंगे ॥२६३॥

एसा पुढवाईणं, भवट्ठिई संपयं तु कायट्ठिई ।
चउ एगिंदिसु नेया, ओस्सप्पिणिओ असंखेज्जा ॥२६४॥

अर्थ - इस तरह पृथ्वी आदि जीवों की भवस्थिति कही गई है। अब कायस्थिति को बताते हुए ग्रन्थकार चार एकेन्द्रियों के बारे में असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी का कायस्थितिकाल-प्रमाण कहते हैं ॥२६४॥

ताउ वणम्मि अणंता, संखिज्जा वाससहस विगलेसु ।
पंचिंदितिरिनिरेसु, सत्तट्ठभवा उ उक्कोसा ॥२६५॥

अर्थ - वही कायस्थिति वनस्पति में भी अनंता [उत्स० अवस०] समझना विकलेन्द्रिय में संख्याता वर्ष सहस्त्र की तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंच में उत्कृष्ट सात से आठ भव की जानना ॥२६५॥

सव्वेसिंपि जहन्ना, अंतमुहुत्तं भवे अ काए य ।
जोअणसहस्समहिअं, एगिंदिअदेहमुक्कोसं ॥२६६॥

अर्थ - सभी जीवों की जघन्य भवस्थिति और

कायस्थिति अंतर्मुहूर्त है । एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट शरीरमान साधिक हजार योजन है ॥२६६॥

बितिचउरिंदिसरीरं, बारस जोअणतिकोसचउकोसं ।
जोअणसहस पणिंदिअ, ओहे वोच्छं विसेसं तु ॥२६७॥

अर्थ – द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय का क्रमशः १२ योजन, ३ गाँव, ४ गाँव और पंचेन्द्रिय का ओघसे १००० योजन उत्कृष्ट शरीरमान है। विशेष शरीरमान अब कहूँगा ॥२६७॥

अंगुलअसंखभागो, सुहुमनिगोओ असंखगुण वाउ ।
तो अगणि तओ आऊ, तत्तो सुहुमा भवे पुढवी ॥२६८॥
तो बायरवाउगणी, आऊ पुढवी निगोअ अणुक्कमसो ।
पत्तेअवणसरीरं, अहिअं जोयणसहस्सं तु ॥२६९॥

अर्थ – सूक्ष्म निगोद का शरीरमान अंगुल के असंख्यातवे भाग का है। उससे असंख्यगुण सूक्ष्म वायुकाय का, उससे असंख्यगुण सूक्ष्म तेउकाय का, उससे असंख्यगुण सूक्ष्म अपकाय का, उससे सूक्ष्म पृथ्वीकाय–बादर वायुकाय–तेउकाय–अपकाय–पृथ्वीकाय, निगोद का क्रमशः असंख्यगुण है। प्रत्येक वनस्पतिकाय का शरीर साधिक १००० योजन है ॥२६८–२६९॥

उस्सेहंगुलजोअण–सहस्समाणे जलासए नेयं ।
तं वल्लि पउमपमुहं–अओ परं पुढवीरूवं तु ॥२७०॥

अर्थ – उत्सेधांगुल से हजार योजन मानवाले जलाशयों में वह वेल, पद्म–कमल प्रमुख [प्रमुख शब्द से वैसे वनस्पतिरूप अन्य कमलादि] जानें । इससे [अधिक मानवाले जहाँ हों वे] दूसरे सर्व पृथ्वीकायरूप जानें ॥२७०॥

बारसजोअण संखो, तिकोस गुम्मी य जोयणं भमरो ।
मुच्छिमचउपयभुअगुरग, गाउअधणुजोअणपुहुत्तं ॥२७१॥

अर्थ – अढाई द्वीप के बाहर स्वयंभूरमणादि समुद्र में उत्पन्न होते शंख आदि प्रकार के दोइन्द्रिय जीवों का उत्कृष्ट देहमान बारह योजन का, त्रिइन्द्रिय–कानखजूरे, मकोड़े आदि की लंबाई तीन कोस की, चउरिन्द्रिय–भ्रमर, बिच्छू, मक्खी आदि का देहमान एक योजन का होता है संमूर्च्छिम–चतुष्पद–भुजपरिसर्प–उरपरिसर्प का शरीरमान क्रमशः गाउपृथक्त्व, धनुष्यपृथक्त्व और योजनपृथक्त्व है ॥२७१॥

गब्भचउप्पय छग्गाउआइं भुअगा उ गाउअपुहत्तं ।
जोअणसहस्समुरगा, मच्छाउभए वि अ सहस्सं ॥२७२॥

अर्थ – गर्भज चतुष्पद हाथी आदि का [देवकुरु–उत्तरकुरु में] उत्कृष्ट देहमान छः कोस का, गर्भज भुजपरिसर्प नेवले आदि का गाउपृथक्त्व [दो से नौ कोस का] सर्प–अजगरादि गर्भज उरपरिसर्पों का एक हजार योजन का है [यहाँ स्थलचर जीवों का वर्णन पूर्ण हुआ ।] तथा जलचर में स्वयंभूरमण समुद्रवर्ती संमूर्च्छिम् तथा गर्भज दोनों जलचर

मत्स्यों का भी एक हजार योजन का देहमान होता है ॥२७२॥

पक्खिदुगधणुपुहत्तं, सव्वाणंगुलअसंखभाग लहू ।
विरहो विगलासन्नीण, जम्ममरणेसु अंतमुहू ॥२७३॥
गब्भे मुहुत्त बारस, गुरुओ लहुओ समय संख सुरतुल्ला ।
अणुसमयमसंखिज्जा, एगिंदिअ हुंति अ चवंति ॥२७४॥

अर्थ - दो (गर्भज-संमूर्च्छिम) पक्षियों का धनुष-पृथक्त्व, सभी का जघन्य शरीरमान अंगुल के असंख्यातवाँ भाग है । विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच का अंतर्मुहूर्त, गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच का १२ मुहूर्त उत्कृष्ट उपपात-च्यवन विरहकाल है, जघन्य १ समय है । एक समय में उपपात-च्यवन संख्या देवतुल्य है । एकेन्द्रिय प्रतिसमय असंख्याता उत्पन्न होते हैं और च्यवित होते हैं ॥२७३-२७४॥

वणकाइओ अणंता, एक्केक्काओ वि जं निगोआओ ।
निच्चमसंखो भागो, अणंतजीवो चयइ एइ ॥२७५॥

अर्थ - वनस्पतिकाय में प्रत्येक समय में अनंत उत्पन्न होते हैं और च्यवित होते हैं । क्यूंकि एक-एक निगोद में सदैव अनंतजीवों वाला असंख्यातवाँ भाग च्यवित होता है और उत्पन्न होता है ॥२७५॥

गोला य असंखिज्जा, असंखनिगोअओ हवइ गोलो ।
इक्किक्कंमि निगोए, अणंतजीवा मुणेयव्वा ॥२७६॥

अर्थ - गोले असंख्यात हैं, असंख्य-असंख्य निगोदों का एक गोला होता है और एक एक निगोद में अनंत जीव जानें ॥२७६॥

अत्थि अणंता जीवा, जेहिं न पत्तो तसाइपरिणामो ।
उप्पज्जंति चयंति य, पुणोवि तत्थेव तत्थेव ॥२७७॥

अर्थ - ऐसे अनंत जीव हैं, जो त्रसादि लब्धिपरिणाम को नहीं पाये है, क्योंकि वे (असांव्यवहारिक जीव) वहीं पर बार-बार उत्पन्न होते हैं तथा मरते हैं ॥२७७॥

सव्वोऽवि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ ।
सो चेव विवड्ढंतो, होइ परित्तो अणंतो वा ॥२७८॥

अर्थ - सर्व किसलय भी [प्रारम्भ की उद्गम अवस्था-कोमल पर्णों के समय] अर्थात् प्रथम उद्गम अवस्थावाली वनस्पतियाँ उगते समय निश्चिय ही अनंतकाय होती है, ऐसा श्री तीर्थंकर तथा गणधर भगवंतों ने बताया है तथा पश्चात् वृद्धि पाते वे ही वनस्पति किसलय, प्रत्येक होनेवाले हों तो प्रत्येक होते और साधारण या अनंतकाय [बादर निगोद स्वरूप] होनेवाले हों तो अनंतकाय होते हैं ॥२०८॥

जया मोहोदओ तिव्वो, अन्नाणं खु महब्भयं ।
पेलवं वेअणीयं तु, तया एगिंदिअत्तणं ॥२७९॥

अर्थ - जब मोहोदय अत्यन्त गाढ हो । महाभयानक ऐसा अज्ञान वर्त्तित हो, असार-अशातारूप वेदनीय कर्म उदय में आया हो, तब जीव ऐसा एकेन्द्रियत्व प्राप्त करता है ॥२७९॥

तिरिएसु जंति संखाउ-तिरिनरा जा दुकप्पदेवा उ ।
पज्जत्तसंखगब्भय-बादरभूदग परित्तेसुं ॥२८०॥
तो सहसारंतसुरा, निरया य पज्जत्तसंखगब्भेसु ।
संखपणिंदिअतिरिआ, मरिउं चउसु वि गइसु जंति ॥२८१॥

अर्थ - संख्याता वर्ष की आयु वाले तिर्यंच-मनुष्य, तिर्यंच में जाते हैं। दो देवलोक तक के देव संख्याता वर्ष की आयु वाले पर्याप्ता गर्भज (तिर्यंच-मनुष्य) और बादर पृथ्वीकाय, अप्काय प्रत्येक वनस्पतिकाय में जाते हैं तत्पश्चात् सहस्त्रार तक के देव और नारकी संख्याता वर्ष की आयु वाले पर्याप्ता गर्भज (तिर्यंच-मनुष्य) में जाते हैं । संख्याता वर्ष की आयु वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंच मरकर चारों गति में जाते हैं ॥२८०-२८१॥

थावर विगला नियमा, संखाउअ तिरिनरेसु गच्छंति ।
विगला लब्भिज्ज विरइं, सम्मंपि न तेउवाउचुआ ॥२८२॥

अर्थ - स्थावर और विकलेन्द्रिय तिर्यंच-मनुष्यों में जाते हैं अवश्य संख्याता वर्ष की आयु वाले ही होते हैं । विकलेन्द्रिय में से च्युत हुए सर्वविरति को प्राप्त करते हैं, तेउकाय-वायुकाय में से च्युत हुए सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करते ॥२८२॥

पुढवीदग परित्तवणा, बायरपज्जत्त हुंति चउलेसा ।
गब्भयतिरिअनराणं, छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥२८३॥

अर्थ - बादरपर्याप्ता पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पतिकाय में प्रथम की [कृष्ण-नील-कापोत तथा तेजो] चार लेश्याएँ होती हैं । गर्भज तिर्यंच और मनुष्यों की छहों [कृष्ण-नील-कापोत-तेजो-पद्म और शुक्ल] लेश्याएँ होती हैं। और शेष बादरपर्याप्त तेजस्काय, वायुकाय, सूक्ष्म तथा अपर्याप्ता पृथ्व्यादि स्थावर साधारण वनस्पति, अपर्याप्त प्रत्येक, विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्यों के प्रथम की [कृष्ण-नील-कापोत] तीन लेश्याएँ होती हैं ॥२८३॥

अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
लेसाहिं परिणया हिं, जीवा वच्चंति परलोयं ॥२८४॥

अर्थ- अंतर्मुहूर्त्त जाने पर तथा अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर, लेश्या में परिणमन भाववाले होने पर जीव परलोक में जाते हैं ॥२८४॥

तिरिनर आगामिभवल्लेसाए अइगए सुरा निरया ।
पुव्वभवलेस्ससेसे, अंतमुहूत्ते मरणमिंति ॥२८५॥

अर्थ - तिर्यंचों तथा मनुष्यों को आगामी भव की लेश्या के परिणमन का अन्तर्मुहूर्त्त काल व्यतिक्रम से तथा देव, नारकों के पूर्वभव की (अन्यभव अपेक्षा से) अर्थात्

स्वभाव की चलती लेश्या, अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर मरण को पाती है ॥२८५॥

अंतमुहुत्तठिईओ, तिरिअनराणं हवंति लेसाओ ।
चरमा नराण पुण नव-वासूणा पुव्वकोटी वि ॥२८६॥

अर्थ – पृथ्वीकाय आदि तिर्यंचों की तथा संमूर्च्छिम और गर्भज मनुष्य की यथायोग्य जो लेश्याएँ होती हैं, वे जघन्य से और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त्त की स्थितिवाली होती हैं, परन्तु विशेष यह है कि, मनुष्यों की [गर्भज मनु०] अन्तिम लेश्या की अर्थात् शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून [देशोन नौ वर्ष] पूर्व करोड वर्ष की होती है ॥२८६॥

तिरिआण वि ठिइपमुहं, भणिअमसेसं वि संपयं वोच्छं ।
अभिहिअदारब्भहिअं, चउगइजीवाणं सामन्नं ॥२८७॥

अर्थ – तिर्यंचों की भी स्थिति प्रमुख आठों द्वार कहे गए है । अब शेष रही वक्तव्यता के बारे में कहेंगे । उसमें कहे गए द्वारों से प्रासंगिक उपयोगी जो अधिक वर्णन हैं, उसे चार गति के जीव आश्रयी सामान्य से कहेंगे ॥२८७॥

देवा असंख नरतिरि, इत्थीपुंवेअ गब्भनरतिरिआ ।
संखाउआ तिवेआ, नपुंसगा नारयाईआ ॥२८८॥

अर्थ – देव तथा असंख्य वर्ष के आयुष्यवाले [युगलिक] मनुष्य-तिर्यंचों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद इस प्रकार दोनों वेद हैं, साथ ही संख्यवर्ष के आयुष्यवाले गर्भज मनुष्य और तिर्यंच स्त्री, पुरुष और नपुंसक इस तरह तीन वेदवाले होते हैं । तथा नारक और 'आइ' शब्द से एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम तिर्यंच, मनुष्य ये सर्व एक नपुंसक वेदवाले ही होते हैं ॥२८८॥

आयंगुलेण वत्थुं, सरीरमुस्सेहअंगुलेण तहा ।
नगपुढविविमाणाई, मिणसु पमाणंगुलेणं तु ॥२८९॥

अर्थ – आत्मांगुल से वास्तु [अर्थात् कूप-तलाबादि], उत्सेधांगुल से जीवों के शरीर और प्रमाणांगुल से पर्वत, पृथ्वी, विमानादि नापे जाते हैं ॥२८९॥

सत्थेण सुतिक्खेण वि, छित्तुं भित्तुं व जं किर न सक्का ।
तं परमाणुं सिद्धा, वयंति आइं पमाणाणं ॥२९०॥

अर्थ – उत्सेधांगुल की व्याख्या में कहा गया है कि वृद्धि पाता अंगुल वह उत्सेधांगुल । इस उत्सेधांगुल की वृद्धि की शुरूआत परमाणु से होती है । यह परमाणु दो प्रकार का है, एक सूक्ष्म परमाणु तथा दूसरा व्यावहारिक परमाणु बहुत तीक्ष्ण शस्त्र से भी जो छेदा-भेदा जा ना सके वह परमाणु को सिद्धो प्रमाण की आदि (शरूवात) कहते है ॥२९०॥

परमाणू तसरेणू, रहरेणू वालअग्ग लिक्खा य ।
जूअ जवो अट्ठगुणा, कमेण उस्सेहअंगुलयं ॥२९१॥
अंगुलछक्कं पाओ, सो दुगुण विहत्थि सा दुगुण हत्थो ।
चउहत्थं धणु दुसहस, कोसो ते जोअणं चउरो ॥२९२॥

अर्थ – परमाणु, त्रसरेणु, रथरेणु, वालाग्र, लीख, जू, जव, उत्सेधांगुल क्रमशः आठगुण करने से होता है । छ अंगुल का १ पाद, २ पाद = १ वेंत, २ वेंत = १ हाथ, ४ हाथ = १ धनुष्य, २००० घनुष्य = १ कोश, ४ कोश का १ योजन होता है ॥२९१-२९२॥

चउसयगुणं पमाणं-गुलमुस्सेहंगुलाउ बोधव्वं ।
उस्सेहंगुल दुगुणं, वीरस्सायंगुलं भणियं ॥२९३॥

अर्थ – उत्सेधांगुल से चारसौ गुना बड़ा प्रमाणांगुल जानें और उत्सेधांगुल से द्विगुण भगवान महावीर का एक अंगुल कहा गया है ॥२९३॥

पुढवाइसु पत्तेअं, सगवणपत्ते अणंत दस चउदस ।
विगले दु दु सुरनारयतिरि, चउ चउ चउदस नरेसु ॥२९४॥
जोणीण होंति लक्खा, सव्वे चुलसी इहेव घिप्पंति ।
समवण्णाइसमेआ, एगत्तेणेव सामन्ना ॥२९५॥

अर्थ – पृथ्व्यादि में – अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेउ और वायुकार इन प्रत्येक की सात सात लाख प्रमाण योनिसंख्या ज्ञानीपुरुषों ने ज्ञानचक्षु से देखकर कही है । प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख योनि, अनन्त [साधारण] वनस्पतिकाय की चौदह लाख, विकलेन्द्रिय अर्थात् दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय इन प्रत्येक की दो-दो लाख, देवता, नारक और पंचेन्द्रिय तिर्यंच प्रत्येक की चार चार लाख, मनुष्य की चौदह लाख योनिसंख्या है । सर्व

मिलकर जीवयोनि की संख्या चौरासी लाख होती है, जो प्रसिद्ध है समान वर्ण विगेरे से युक्त होने से एकरुप हुई योनि ८४ लाख योनि में ही ग्रहण हो जाती है ॥२९४-२९५॥

एगिंदिएसु पंचसु, बार सग ति सत्त अट्ठवीसा य ।
विअलेसु सत्त अड नव, जलखहचउपयउरग भुअगे ॥२९६॥
अद्धतेरस बारस, दस दस नवगं नरामरे नरए ।
बारस छव्वीस पणवीस, हुंति कुल कोडि लक्खाइं ॥२९७॥

अर्थ – पांच एकेन्द्रिय में क्रमशः १२ लाख, ७ लाख, ३ लाख, ७ लाख, २८ लाख विकलेन्द्रिय में क्रमशः ७ लाख, ८ लाख, ९ लाख, जलचर-खेचर-चतुष्पद-उरपरिसर्प-भुजगपरिसर्प में क्रमशः साडे १२ लाख - १२ लाख - १० लाख - १० लाख - ९ लाख, मनुष्य-देव-नारकी में क्रमशः १२ लाख - २६ लाख - २५ लाख कुलकोटी है ॥२९६-२९७॥

इग कोडि सत्तनवई, लक्खा सड्ढा कुलाण कोडीणं ॥
संवुडजोणि सुरेगिंदिनारया, विअडविगल गब्भूभया ॥२९८॥

अर्थ – कुल १,९७,५०,००० कुलकोटी है । देव-एकेन्द्रिय-नारकी संवृत (आवृत्त) योनि वाले हैं, विकलेन्द्रिय विवृत (प्रकट) योनि वाले हैं । गर्भज जीव संवृत-विवृत योनि वाले हैं ॥२९८॥

अचित्तजोणि सुरनिरय, मीस गब्भे तिभेअ सेसाणं ।
सीउसिण निरय सुरगब्भ, मीस उसिण सेस तिहा ॥२९९॥

अर्थ - देवों और नारकों की अचित्त योनि, गर्भज जीवों की मिश्र योनि तथा शेष जीवों की सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त इन तीन भेदों से तथा पुनः मिश्रयोनि, शीतयोनि तथा उष्णयोनि इस तरह तीन प्रकार स्पर्श की दृष्टि से है । इनमें नारकों, देवों तथा गर्भज जीवों की मिश्र [शीतोष्ण], तेउकाय की उष्णयोनि तथा शेषजीवों की शीत, उष्ण और शीतोष्ण इस तरह तीनों प्रकार की है ॥२९९॥

हयगब्भ संखवत्ता, जोणी कुम्मुन्नयाइ जायंति ।
अरिहहरिचक्किरामा, वंसीपत्ताइ सेसनरा ॥३००॥

अर्थ - शंखावर्ता योनि हतगर्भा है । अरिहंत, चक्री, बलदेव, वासुदेव, कूर्मोन्नता में उत्पन्न होते हैं और अवशेष नर-मनुष्य, वंशीपत्रा योनि में उत्पन्न होते हैं ॥३००॥

आउस्स बंधकालो, अबाहकालो अ अंतसमओ य ।
अपवत्तऽणपवत्तण उवक्कमणुवक्कमा भणिया ॥३०१॥

अर्थ - आयुष्य का (१) बन्धकाल, (३) अबाधाकाल, (३) अन्तसमय, (४) अपवर्तन, (५) अनपवर्तन, (६) उपक्रम और (७) अनुपक्रम आदि सात स्थान यथायोग्य कहे गए हैं ॥३०१॥

बंधंति देव-नारय असंखनरतिरि छमाससेसाऊ ।
परभवियाऊं सेसा, निरुवक्कम तिभागसेसाऊ ॥३०२॥

सोवक्कमाउआ पुण, सेसतिभागे अहव नवमभागे ।
सत्तावीसइमे वा, अंतमुहुत्तंतिमे वा वि ॥३०३॥

अर्थ - (निरुपक्रमायुषी) देव-नारक, असंख्यवर्षायुषी युगलिक मनुष्य तथा तिर्यंच (अपने वर्त्तमान भव का) छः मास आयुष्य बाकी रहे तब परभव का आयुष्य बांधते हैं। तथा शेष जीवों में निरूपक्रमायुषी निश्चय से, अपने आयुष्य का शेष तीसरा भाग बाकी हो तब, और जो सोपक्रमायुषी हैं वे अपने आयुष्य के शेष तीसरे भाग में परभवायुष्य बांधते हैं, लेकिन निश्चय से नहीं । इसीलिए स्वआयुष्य के बाकी के नौवें-भाग में, सत्ताईसवें भाग में, (इस तरह प्रत्येक तीसरे भाग में) आखिर स्वआयुष्य के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में भी परभव विषयक आयुष्य जरूर बांधते हैं ॥३०२-३०३॥

जइमे भागे बंधो, आउस्स भवे अबाहकालो सो ।
अंते उज्जुगइ इग समय, वक्क चउपंच समयंता ॥३०४॥

अर्थ - जितने भाग से आयुष्य का बंध हुआ हो वहाँ से लेकर (परभवायुष्य उदय में न आए तब तक का) अबाधाकाल कहलाता है । अन्तसमय अर्थात् मरणसमय, उस अन्त समय में [परभव में जाने वाले जीव को] एक समय की ऋजुगति तथा चार-पाँच समय की वक्रगति होती है ॥३०४॥

उज्जुगइ पढम समए, परभविअं आउअं तहाऽऽहारो ।
वक्काए बीअसमए, परभविआउं उदयमेइ ॥३०५॥

अर्थ – ऋजुगति के प्रथम समय पर परभव के आयुष्य का उदय तथा प्रथम समय में ही आहार और वक्रगति में द्वितीय समय पर परभवायुष्य का उदय होता है ॥३०५॥

इगदुतिचउवक्कासु, दुगाइसमएसु परभवाहारो ।
दुगवक्काइसु समया, इग दो तिन्नि अ अणाहारा ॥३०६॥

अर्थ – एक, दो तीन और चार समय की वक्रगति में द्वितीयादि समयों में परभव का आहार जानें, अर्थात् अनुक्रम से द्विवक्रगति में एक समय, त्रिवक्रगति में दो समय और चतुर्वक्रगति में तीन समय अनाहारक होते हैं ॥३०६॥

बहुकालवेअणिज्जं, कम्मं अप्पेण जमिह कालेणं ।
वेइज्जइ जुगवं चिअ, उइन्नसव्वप्पएसग्गं ॥३०७॥
अपवत्तणिज्जमेयं आउं, अहवा असेसकम्मं पि ।
बंधसमए वि बद्धं, सिढिलं चिअ तं जहा जोगं ॥३०८॥

अर्थ – इस विश्व में तिर्यंच या मनुष्य बहुत लंबे काल तक भोगा जा सके ऐसे दीर्घ स्थितिवाले आयुष्यकर्म को या उसके दलिकों (प्रदेश-परमाणुओं) की भी अपवर्तना नामके एक करण (प्रयत्न) से, भविष्य में क्रमशः उदय में आनेवाले सत्तागत रहे आयुष्य पुद्‌गलों को एक साथ ही उदय में लाकर अल्पकाल के अन्दर ही भोग डालें, अर्थात्

अनुभव करके क्षीण कर देते हैं। इसलिए सौ साल तक जी सकनेवाला अन्तर्मुहूर्त्त में भी प्राणत्याग कर सकता है। इस प्रकार के मूलस्थिति में से परावर्तन पानेवाले आयुष्य को अपवर्तनीय आयुष्य कहा जाता है। गत भव में बंधकाल में मन्द अध्यवसाय आने से प्रस्तुत आयुष्य शिथिल बंध से बांधा था। किसी समय प्रतिकूल उपक्रमादि निमित्त मिलते ही दीर्घकालीन स्थिति में धक्का लगने से अनुदित आयुष्य प्रदेश आत्मप्रयत्न से सतह पर आ जाएँ और उसे जीव भारी वेग से शीघ्र भोग डाले और भोग पूरा होने पर शरीर से आत्मा अलग होकर गत्यन्तर में जन्म लेने चली जाती है ॥३०७-३०८॥

जं पुण गाढ निकायणबंधेणं पुव्वमेव किल बद्धं ।
तं होइ अणपवत्तण जोग्गं कमवेअणिज्जफलं ॥३०९॥

अर्थ – जो पहेले गाढ निकाचित बंधा हुआ कर्म दो अनपवर्तनीय हैं तो क्रमपूर्वक भोग्य फलवाला हैं ॥३०९॥

उत्तम-चरमसरीरा, सुरनेरइया असंखनरतिरिआ ।
हुंति निरूवक्कमाऊ, दुहा वि सेसा मुणेअव्वा ॥३१०॥

अर्थ – उत्तम शब्द से मनुष्य जाति में उत्तम-प्रधान गिने जाते पुरुषों को लेने होने से, हरेक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल में अनादि नियमानुसार होने वाले बारह चक्रवर्त्ती, नव वासुदेव, नव प्रतिवासुदेव, नव बलदेव और

'चरमशरीरी' उसी भव में जो मोक्ष में जानेवाले हैं वैसी आत्माएँ, जिसमें तीर्थंकर, गणधर, केवली आदि का समावेश होता है, इसके उपरांत देव गति के सर्व देव, नारक, असंख्य वर्ष के आयुष्यवाले युगलिक मनुष्य-तिर्यंच ये सब अनपवर्तनीय आयुष्यवाले हैं ॥३१०॥

जेणाउमुवक्कमिज्जइ, अप्पसमुत्थेण इयरगेणावि ।
सो अज्झवसाणाई, उवक्कमणुवक्कमो इयरो ॥३११॥

अर्थ - अपनी आत्मा से समुत्पन्न हुए आन्तरिक जो अध्यवसायादि हेतु विशेष से अथवा इतर अर्थात् दूसरे विष-अग्नि-शस्त्रादिक के बाह्य जिन निमित्तों से आयुष्य उपक्रम पाए-अर्थात् दीर्घकाल पर वेदने योग्य आयुष्य स्वल्प काल में वेद कर पूर्ण किया जा सके वैसा व्यवस्थित कर दे वह अपवर्तन हेतुभूत उपक्रम कहलाता है और दूसरा उससे विपरीत अनुपक्रम (अथवा निरुपक्रम) जानें ॥३११॥

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाए ।
फासे आणापाणू, सत्तविहं झिज्झए आउं ॥३१२॥

अर्थ - यहाँ सात प्रकार के उपक्रमों के नाम बताते हैं। विश्व में अनंत उपक्रम हैं लेकिन यहाँ अवान्तर भेदों को दूर करके, इन सबका वर्गीकरण करके उन्हें सात प्रकार में ही समा देते हैं, अर्थात् अनंत का मूल ये सात ही हैं ऐसा समझना। ये

सात कौन से ? तो - १. अध्यवसान, २. निमित्त, ३. आहार, ४. वेदना, ५. पराघात, ६. स्पर्श, ७. आनप्राण। अब इन सातों की विशेष व्याख्या करते हैं ॥३१२॥

आहार सरीरिंदिअ, पज्जत्ती आणपाणभासमणे ।
चउ पंच पंच छप्पिअ, इग-विगला सन्निसन्नीणं ॥३१३॥

अर्थ - आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन नामों की छः पर्याप्तियाँ हैं । उनमें एकेन्द्रिय के चार, विकलेन्द्रिय के पाँच, असंज्ञि पंचेन्द्रिय के पाँच और संज्ञी पंचेन्द्रिय के छः होती हैं ॥३१३॥

आहारसरीरिंदिय, ऊसासवउमणोभिनिव्वत्ति ।
होइ जओ दलियाओ, करणं पइ सा उ पज्जत्ती ॥३१४॥

अर्थ - दलियारूप पुद्गल समूह से आहारादि छः कार्यों की रचना होती है उन दलिकों का अपने अपने विषयरूप जो परिणमन और उस परिणमन के प्रति शक्तिरूप जो करण वह पर्याप्ति है । इनमें जीव कर्त्ता, पुद्गलोपचयोत्पन्न शक्ति वह करण तथा आहारादि परिणमन वह क्रिया है ॥३१४॥

पणिंदियतिबलूसा, आउअ दसपाण चउ छ सग अट्ठ ।
ईग-दु-ति-चउरिंदीणं, असन्नि-सन्नीण नव दस य ॥३१५॥

अर्थ - पांच इन्द्रिय, ३ बल, श्वासोच्छ्वास, आयु - ये १०

प्राण हैं। एकेन्द्रिय-द्विन्द्रिय-त्रिन्द्रिय-चतुरेन्द्रिय क्रमशः ४,६,७, ८ प्राण हैं, असंज्ञी-संज्ञी को क्रमशः ९ और १० प्राण हैं ॥३१५॥

संखित्ता संघयणी गुरुत्तर संघयणी मज्झओ एसा ।
सिरिसिरि चंदमुणिंदेण, णिम्मिया अप्पपढणत्था ॥३१६॥

अर्थ - प्रथम श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने संक्षिप्त संग्रहणी रची थी । अभ्यासियों ने अन्यान्य गाथाएँ जोड़कर संक्षिप्त या मूल संग्रहणी को ही गुरुतर-बहुत बड़ी बना दी । इस विस्तृत संग्रहणी में से ही उपयोगी हकीकतों को ग्रहण करके, सम्यग् ज्ञान दर्शन चारित्ररूपी श्री से युक्त, मुनियों में श्रेष्ठ ऐसे 'श्रीचन्द्र' मुनि ने अपने अध्यनार्थ पुनः इस (संक्षिप्त) संग्रहणी का निर्माण किया अर्थात् रचना की ॥३१६॥

संखित्तयरी उ इमा सरीरमोगाहणा य संघयणा ।
सन्ना संठाण कसाय लेसिंदिअ दु समुग्घाया ॥३१७॥
दिट्ठिदंसणनाणे जोगुवओगोववाय-चवण-ठिई ।
पज्जत्ति किमाहारे सन्नि-गइ-आगइ-वेए ॥३१८॥

अर्थ - १. शरीर, २. अवगाहना, ३. संघयण, ४. संज्ञा, ५. संस्थान, ६. कषाय, ७. लेश्या, ८. इन्द्रिय, ९. जीव समुद्घात, १०. अजीव समुद्घात, ११. दृष्टि, १२. दर्शन, १३. ज्ञान, १४. योग, १५. उपयोग, १६. उपपात संख्या,

१७. च्यवन संख्या, १८. स्थिति = आयुष्यमर्यादा, १९. पर्याप्ति, २० किमाहार, २१. संज्ञी, २२. गति, २३. आगति, २४. वेद। इस तरह २४ द्वार की यह संक्षिप्त संग्रहणी है ॥३१६-३१८॥

मलधारिहेमसूरीण सीसलेसेण विरइयं सम्मं ।
संघयणिरयणमेयं नंदउ जा वीरजिणतित्थं ॥३१९॥

अर्थ - मलधारिगच्छ के श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी के शिष्य से श्रेष्ठ रूप में विरचित यह संग्रहणीरत्न अर्थात् इस नाम का यह ग्रन्थ श्री श्रमण भगवान महावीर जिन का तीर्थ जब तक विद्यमान हो तब तक विद्यमान रहें ! ॥३१९॥

• • •

श्रीसंग्रहणिरत्न के लिये उपयोगी प्रक्षेपगाथाएँ

पंच सया बावीसा, तिन्नेव सया उ हुंति छप्पन्ना ।
तिन्नि सया अडयाला, सणंकुमारस्स वट्टाई ॥१॥

अर्थ – सन्तकुमार देवलोक के गोल वगैरह विमान क्रमशः ५२२, ३५६ और ३४८ हैं ॥१॥

सत्तरिसयमणूणं, तिन्नेव सया हवन्ति छप्पन्ना ।
तिन्नि सया अडयाला, वट्टाई माहिंदसग्गस्स ॥२॥

अर्थ – माहेन्द्र देवलोक के गोल वगैरह विमान क्रमशः १७०, ३५६ और ३४८ हैं ॥२॥

चोवत्तरि चुलसीया, छसुत्तरया दुवे दुवे सयाओ ।
कप्पंमि बंभलोए, वट्टा तंसा य चउरंसा ॥३॥

अर्थ – ब्रह्मलोक देवलोक में गोल, त्रिकोण और चोकोरविमान क्रमशः २७४, २८४ और २७६ हैं ॥३॥

तेणउअं चेव सयं, दो चेव सया सयं च बाणउयं ।
कप्पंमि लंतयंमि, वट्टा तंसा य चउरंसा ॥४॥

अर्थ – लांतक देवलोक में गोल, त्रिकोण, चोकोर विमान क्रमशः १९३, २०० और १९२ हैं ॥४॥

अट्ठावीसं च सयं छत्तीस-सयं सयं च बत्तीसं ।
कप्पंमि महासुक्के, वट्टा तंसा य चउरंसा ॥५॥

अर्थ – महाशुक्र देवलोक में गोल, त्रिकोण और चोकोर विमान क्रमशः १२८, १३६ और १३२ हैं ॥५॥

अट्ठोत्तरं च सोलं, अट्ठ सयं चेव होअणूणं तु ।
कप्पंमि सहस्सारे, वट्टा तंसा य चउरंसा ॥६॥

अर्थ – सहस्रार देवलोक में गोल, त्रिकोण और चोकोर विमान क्रमशः १०८, ११६ और अन्यून १०८ हैं ॥६॥

अडसीई बाणउई, अट्ठासीई य होई बोद्धव्वा ।
आणयपाणयकप्पे, वट्टा तंसा य चउरंसा ॥७॥

अर्थ – आनत-प्राणत देवलोक में गोल, त्रिकोण चोकोर विमान क्रमशः ८८, ९२ और ८८ इस प्रकार जानने योग्य हैं ॥७॥

चउसट्ठी बावत्तरि, अडसट्ठी चेव होई बोद्धव्वा ।
आरणअच्चुयकप्पे, वट्टा तंसा य चउरंसा ॥८॥

अर्थ – आरण-अच्युत देवलोक में गोल, त्रिकोण चोकोर विमान क्रमशः ६४, ७२ और ६८ इस प्रकार जानने योग्य हैं ॥८॥

पणतीसा चत्ताला, छत्तीसा हेट्ठिमंमि गेविज्जे ।
तेवीस अट्ठवीसा, चउवीसा चेव मज्झिमए ॥९॥

अर्थ – नीचे के तीन ग्रैवेयक में क्रमशः ३५, ४०, ३६ और मध्यम तीन ग्रैवेयक में क्रमशः २३, २८, २४ गोल, त्रिकोण, चोकोर विमान हैं ॥९॥

एक्कारस सोलस, बारसेव गेविज्ज उवरिमे हुंति ।
एगं वट्टं तंसा, चउरो य अणुत्तरविमाणा ॥१०॥

अर्थ – ऊपर के तीन देवलोक में क्रमशः ११, १६, १२ गोल, त्रिकोण चोकोर विमान हैं । अनुत्तर विमान १ गोल और ४ त्रिकोण हैं ॥१०॥

अच्ची तहाच्चिमाली, वईरोयण पभंकरं य चंदाभं ।
सूराभं सुक्काभं, सुपईट्ठाभं च रिट्ठाभं ॥११॥

अर्थ – अर्चि, अर्चिमाली, वैरोचन, प्रभंकर, चन्द्राभ, सर्याभ, शुक्राभ, सुप्रतिष्ठाभ, रिष्टाभ (ये ९ लोकान्तिक देवों के विमान हैं ।) ॥११॥

सारस्सयमाईच्चा, वण्ही वरूणा य गद्दतोया य ।
तुसिया अव्वाबाहा, अग्गीच्चा चेव रिट्ठा य ॥१२॥

अर्थ – सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, अग्नि, रिष्ट-(ये ९ लोकान्तिक देवों के नाम हैं ।) ॥१२॥

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स सव्वासाहूणं ।
माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणई ॥१३॥

अर्थ – ज्ञान के केवलि के, धर्माचार्य के, सर्व-साधुओं के अवर्णवा करनेवाले, मायावी किल्बिषिक भावना करते हैं । (अर्थात् किल्बिषिक देव के रूप में उत्पन्न होते हैं ।) ॥१३॥

कोउयभूईकम्मे, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवे ।
ईड्ढि-रस-साय-गुरुओ, आभिओगं भावणं कुणइ ॥१४॥

अर्थ – कौतुक करनेवाले, भूतिकर्म करनेवाले, प्रश्ना-प्रश्न कहनेवाले, निमित्त से आजीविका चलानेवाले, ऋद्धि-रस-साता गारववाले आभियोगिक भावना करते हैं । (अर्थात् आभियोगिक देव के रूप में उत्पन्न होते हैं) ॥१४॥

तेसीया पंचसया, एक्कारस चेव जोयणसहस्सा ।
रयणाए पत्थडंतर-मेगो चिय जोयणतिभागो ॥१५॥

अर्थ – रत्नप्रभा पृथ्वी में प्रतरों का अंतर ११,५८३.१/३ योजन हैं । ॥१५॥

सत्ताणउई सयाई, बीयाए पत्थडंतरं होई ।
पणसत्तरि तिन्नि सया, बारस य सहस्स तईयाए ॥१६॥

अर्थ – दूसरी पृथ्वी में प्रतरों का अंतर ९७०० योजन है । तीसरी पृथ्वी में प्रतरों का अंतर १२,३७५ योजन हैं । ॥१६॥

छावट्ठसयं सोलस, सहस्स पंकाए दो तिभागा य ।
अड्ढाईज्ज सयाई, पणवीससहस्स धूमाए ॥१७॥

अर्थ – चौथी पृथ्वी में प्रतरों का अंतर १६,१६६.२/३ योजन हैं । धूमप्रभा में प्रतरों का अंतर २५,२५० योजन है । ॥१७॥

बावन्न सहस्साई, पंचेव हवंति जोयणसयाई ।
पत्थडमंतरमेयं तु, छट्ठपुढवीए नेयव्वं ॥१८॥

अर्थ – ५२,५०० योजन यह छट्ठी पृथ्वी में प्रतरों का अंतर समझें ॥१८॥

सीमंतउत्थ पढमो, बीओ पुण रोरुयत्ति नायव्वो ।
भंतो उणत्थ तइओ, चउत्थो होई उब्भंतो ॥१९॥

संभंतमसंभंतो, विब्भंतो चेव सत्तमो निरओ ।
अट्ठमओ तत्तो पुण, नवमो सीओत्ति नायव्वो ॥२०॥

वक्कंतमवक्कंतो, विक्कंतो चेव रोरुओ निरओ ।
पढमाए पुढवीए, तेरस निरईदया एए ॥२१॥

अर्थ - यहाँ पहला सीमन्तक, दूसरा रोरुक जाने, तीसरा भ्रांत, चौथा उद्‌भ्रान्त है, सम्भ्रान्त, असम्भ्रान्त, सातवाँ नर्कावास विभ्रान्त, तत्पश्चात् आठवाँ तप्त, नवमाँ शीत जाने । व्युत्क्रान्त, अव्युत्क्रान्त, विक्रान्त और रोरुक नर्कावास - ये पहली पृथ्वी के तेरह नरकेन्द्रक हैं ॥१९-२१॥

थणिए थणए मणए अ तहा वणए अ होइ नायव्वो ।
घट्टे तह संघट्टे, जिब्भे अवजिब्भए चेव ॥२२॥

लोले लोलावत्ते, तहेव थणलोलुए य बोद्धव्वे ।
बीयाए पुढवीए, ईक्कारस इंदया एए ॥२३॥

अर्थ - स्तनित, स्तनक, मनक, वनक जानने योग्य हैं । घट्ट, संघट्ट, जिह्व, अपजिह्व, लोल, लोलावर्त, स्तनलोलुप - ये दूसरी पृथ्वी के ११ इन्द्रक नर्कावास समझें ॥२२-२३॥

तत्तो तविओ तवणो, तावणो पंचमो निदाघो य ।
छट्ठो पुण पज्जलिओ, उज्जलिओ सत्तमो निरओ ॥२४॥

संजलिओ अट्ठमओ, संपज्जलिओ अ नवमओ भणिओ ।
तईयाए पुढवीए, एए नव होंति नरइंदा ॥२५॥

अर्थ - तप्त, तपित, तपन, तापन, पांचवाँ निदाय, छट्ठा प्रज्वलित, सातवाँ उज्ज्वलित, आठवाँ संज्वलित और नववाँ संप्रज्वलित कहा गया है । यह तीसरी पृथ्वी के नौ इन्द्रक नरकेन्द्रक हैं ॥२४-२५॥

आरे तारे मारे, वच्चे तमए य होई नायव्वे ।
खाडखडे य खडखडे, इंदयनिरया चउत्थीए ॥२६॥

अर्थ - आर, तार, मार, वर्च, तमक जानने योग्य हैं, खाडखड, खडखड-यह चौथी पृथ्वी के इन्द्रक नर्कावास हैं ॥२६॥

खाए तमए अ तहा, झसे य अंधे तहय तिमिसे अ ।
एए पंचमपुढवीए, पंच निरइंदिया हुंति ॥२७॥

अर्थ - खाद, तमक, झष, अंधक, तमिस्त्र - ये पाँचवीं के पाँच नरकेन्द्रक हैं ॥२७॥

हिम वद्दल लल्लके, तिन्नि य निरइंदया उ छट्ठीए ।
एक्को य सत्तमीए, बोद्धव्वो अप्पइट्ठाणो ॥२८॥

अर्थ - हिम, वर्दल, लल्लक ये छट्ठी पृथ्वी के तीन नरकेन्द्रक हैं । सातवीं पृथ्वी में एक अप्रतिष्ठान नर्कावास है ॥२८॥

श्रीसंग्रहणिसूत्र के मूलगाथा-शब्दार्थ समाप्त

● ● ●

अहो ! श्रुतम् स्वाध्याय संग्रह में प्रकाशित होनेवाले हिन्दी ग्रन्थो का विवरण

१. जीवविचार - नवतत्त्व
२. दंडक - लघु संग्रहणी
३. भाष्यत्रयम् - चैत्यवंदन / गुरुवंदन / पच्चखाण भाष्य
४. कर्मग्रंथ १-२-३
५. ज्ञानसार
६. उपदेशमाला
७. अध्यात्मसार
८. शान्तसुधारस
९. प्रशमरति
१०. वैराग्यशतक - इन्द्रिय पराजय शतक
११. अध्यात्म कल्पद्रुम
१२. अष्टक प्रकरण
१३. तत्त्वार्थसूत्र
१४. वीतरागस्तोत्रम्
१५. बृहत् संग्रहणी
१६. लघु क्षेत्र समास
१७. बृहत् क्षेत्र समास
१८. योगशास्त्र

● ● ●

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार परिचय

(१) शा. सरेमल जवेरचंदजी बेडावाला परिवार द्वारा स्वद्रव्य से संवत् २०६३ में निर्मित...
(२) गुरुभगवंतो के अभ्यास के लिये २५०० प्रताकार ग्रंथ व २१००० से ज्यादा पुस्तको के संग्रह में से ३३००० से ज्यादा पुस्तके इस्यु की है...
(३) श्रुतरक्षा के लिए ४५ हस्तप्रत भंडारो को डिजिटाईजेशन के द्वारा सुरक्षित किया है और उस में संग्रहित ८०००० हस्तप्रतो में से १८०० से ज्यादा हस्तप्रतो की झेरोक्ष विद्वान गुरुभगवंतो को संशोधन संपादन के लिये भेजी है...
(४) जीर्ण और प्राय: अप्राप्य २२२ मुद्रित ग्रंथो को डिजिटाईजेशन करके मर्यादित नकले पुन: प्रकाशित करके श्रुतरक्ष व ज्ञानभंडारो को समृद्ध बनाया है...
(५) अहो ! श्रुतज्ञानम् चातुर्मासिक पत्रिका के ४६ अंक श्रुतभक्ति के लिये स्वद्रव्य से प्रकाशित किये है...
(६) ई-लायब्रेरी के अंतर्गत ९००० से ज्यादा पुस्तको का डिजिटल संग्रह पीडीएफ उपलब्ध है, जिसमें से गुरुभगवंतो की जरुरियात के मुताबिक मुद्रित प्रिन्ट नकल भेजते है...
(७) हर साल पूज्य साध्वीजी म.सा. के लिये प्राचीन लिपि (लिप्यंतरण) शीखने का आयोजन...
(८) बच्चों के लिये अंग्रेजी में सचित्र कथाओं को प्रकाशित करने का आयोजन...
(९) अहो ! श्रुतम् ई परिपत्र के द्वारा अद्यावधि अप्रकाशित आठ कृतिओं को प्रकाशित की है...
(१०) नेशनल बुक फेर में जैन साहित्य की विशिष्ट प्रस्तुति एवं प्रचार प्रसार।
(११) पंचम समिति के विवेकपूर्ण पालन के लिये उचित ज्ञान का प्रसार एवं प्रायोगिक उपाय का आयोजन।
(१२) चतुर्विध संघ उपयोगी प्रियम् के ६० पुस्तको का डिजिटल प्रिन्ट द्वारा प्रकाशन व गुरुभगवंत व ज्ञानभंडारो के भेट।

● ● ●